विवेक ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम रायपुर

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जुलाई – अगस्त – सितम्बर

★ १९७४ ★

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

ब्रह्मचारी देवेन्द्र

वार्षिक ५)

एक प्रति १।।)

फोन : १०४६

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर ४९२-००१ (म.प्र.)

अनुक्रमणिका

—:०:—

कवर चित्र परिचय – स्वामी विवेकानन्द
काहिरा (मिस्र) में, नवम्बर १९०० ई.

मुद्रण स्थल : नरकेसरी प्रेस, रायपुर (म. प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष १२] जुलाई - अगस्त - सितम्बर [अंक ३

वार्षिक शुल्क ५) ★ १९७४ ★ एक प्रति का १॥)

संसार - चक्र की समाप्ति

सम्यग्विवेकः स्फुटबोधजन्यो
विभज्य दृग्दृश्यपदार्थतत्त्वम् ।
छिनत्ति मायाकृतमोहबन्धं
यस्माद्विमुक्तस्य पुनर्न संसृतिः ॥

-- (आत्मा की) प्रत्यक्ष अनुभूति से उत्पन्न सम्यक् विवेक, द्रष्टा के यथार्थ स्वरूप को दृश्य पदार्थ के स्वरूप से अलग करके, माया से उत्पन्न मोहबन्धन का नाश कर देता है, जिससे मुक्त हुआ व्यक्ति फिर से संसार-चक्र में नहीं पड़ता।

— विवेकचूड़ामणि, ३४५

कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः

किसी धनाढ्य व्यक्ति ने अपने नौकर से कहा, "यह हीरा बाजार ले जाओ और आकर मुझे बताओ कि अलग अलग लोग इसकी क्या कीमत लगाते हैं। पहले तुम इसे बैंगन बेचनेवाले के पास ले जाना।" नौकर हीरे को लेकर बैंगन बेचनेवाले के पास गया। उसने हीरे को हाथ में लेकर तौला, उसे अपनी हथेली में रख चारों तरफ घुमाकर देखा और बोला, "देखो जी, मैं इसके बदले नौ सेर बैंगन दे सकता हूँ।" नौकर ने कहा, "भई, थोड़ा और बढ़ाओ, दस सेर दे दो।" बैंगन बेचनेवाला सिर हिलाते हुए बोला, "नहीं जी, नहीं। मैंने पहले ही तुम्हें बाजार-भाव से कुछ अधिक ही बताया है। यदि यह भाव तुम्हें स्वीकार हो, तो मैं तुम्हारा हीरा खरीद सकता हूँ।" नौकर हँसने लगा। वह अपने मालिक के पास वापस आया और बोला, "हुजूर! वह तो नौ सेर बैंगन से थोड़ा भी ज्यादा नहीं देना चाहता। कहता है—पहले ही तुम्हें बाजार-भाव से ज्यादा दे रहा हूँ!"

मालिक मुसकराये। बोले, "अब हीरे को कपड़ा बेचनेवाले के पास ले जाओ। पहला आदमी तो बस बैंगन ही बेचता है। वह भला हीरे की कीमत क्या जाने? कपड़ा बेचनेवाले के पास कुछ अधिक पूँजी हुआ करती है। देखें, वह कितना देने को कहता है।" नौकर कपड़ा बेचनेवाले के पास गया और हीरे को दिखाकर बोला, "क्या तुम इसे खरीदोगे? इसका कितना

पैसा दोगे ?" कपड़ा बेचनेवाले ने कहा, "हाँ, यह दिखती तो अच्छी चीज है। इससे बढ़िया गहना तैयार करवा सकता हूँ। मैं तुम्हें इसके लिए नौ सौ रुपये दूँगा।" नौकर बोला, "भाईसाहब ! पहले चीज तो देखो। कुछ और आगे बढ़ो, तो यह तुम्हीं को बेच दूँ। कम से कम हजार रुपये दे दो।" कपड़ा बेचनेवाला राजी न हुआ; बोला, "देखो भई, और अधिक देने के लिए मुझ पर जोर न डालो। मैंने बाजार-भाव से तुम्हें ज्यादा ही बताया है। मैं इससे एक रुपया भी ज्यादा नहीं दे सकता। तुम्हें भाव पटे, तो बोलो, सौदा पक्का कर दूँ।"

नौकर हँसता हुआ मालिक के पास आया और बोला, "वह मुझे नौ सौ रुपये से एक भी रुपया अधिक देने को तैयार न हुआ। उसने भी कहा कि उसने बाजार-भाव से कुछ ज्यादा ही बताया है।" मालिक हँसकर बोले, "अब इसे तुम जौहरी के पास ले जाओ। देखें, वह क्या कहता है।" नौकर हीरे को जौहरी के पास ले गया। जौहरी ने हीरे को एक नजर देखा और तुरन्त कहा, "मैं इसके लिए तुम्हें एक लाख रुपये दूँगा।"

मनुष्य अपनी पूँजी के अनुसार किसी वस्तु का मूल्यांकन किया करता है। क्या सभी लोग अखण्ड सच्चिदानन्द की धारणा कर सकते हैं ? कहते हैं, केवल बारह ऋषियों ने श्रीरामचन्द्र को पहचाना था। सभी लोग भगवान् के अवतार को नहीं पहचान पाते। कुछ उन्हें सामान्य मनुष्य समझते हैं, तो कुछ लोग सन्त।

इक्के-दुक्के ही अवतार के रूप में उनकी कीमत लगा पाते हैं। तभी तो भगवान् कृष्ण गीता में कहते हैं--'कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः'।

•

विवेकानन्द के पत्र

अग्नि-मंत्र

(किडी या सिंगारावेलू मुदालियर को लिखित)

५४१, डियरबोर्न एवेन्यू, शिकागो
३ मार्च, १८९४

प्रिय किडी,

...मैं तुमसे यहाँ तक सहमत हूँ कि विश्वास से अपूर्व अन्तर्दृष्टि मिलती है और केवल विश्वास से भी मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर सकता है, पर उससे संकीर्णता आ जाने और भविष्य में उन्नति होने में बाधा पड़ने की आशंका रहती है।

ज्ञानमार्ग अच्छा है, परन्तु उसके शुष्क तर्क में परिणत हो जाने का डर रहता है। भक्ति बड़ी ही उच्च वस्तु है, पर निरर्थक भावुकता में परिणत होकर उसके विनष्ट होने का भय है।

हमें इन सभी का समन्वय ही अभीष्ट है। श्रीरामकृष्ण का जीवन ऐसा ही समन्वयपूर्ण था। ऐसे महापुरुष जगत् में बहुत ही कम आते हैं, परन्तु हम उनके जीवन और उपदेशों को आदर्श के रूप में सामने रखकर आगे बढ़

सकते हैं। यदि हममें से प्रत्येक उस आदर्श की पूर्णता को व्यक्तिगत रूप में प्राप्त न कर सके, तो भी हम उसे सामूहिक रूप में परस्पर एक दूसरे के परिमार्जन, सन्तुलन, आदान-प्रदान से एवं सहायक बनकर प्राप्त कर सकते हैं। इससे कई एक व्यक्तियों के समष्टि जीवन में समन्वय रहेगा और निश्चय ही यह अन्य प्रचलित धर्म-मतों की अपेक्षा उन्नति का अच्छा मार्ग रहेगा।

किसी धर्म को कारगर बनाने के लिए उत्साह आवश्यक है। साथ ही नये नये सम्प्रदायों की वृद्धि के खतरे से बचने के लिए सावधान रहना चाहिए। इससे बचने के लिए हम अपने को एक असाम्प्रदायिक सम्प्रदाय बनाना चाहते हैं। सम्प्रदाय से जो लाभ होते हैं, वे भी उसमें मिलेंगे और साथ ही साथ सार्वभौम धर्म का उदार भाव भी उसमें रहेगा।

यद्यपि ईश्वर सर्वत्र है, तो भी उसको हम केवल मनुष्य-चरित्र में और उसके द्वारा ही जान सकते हैं। श्रीरामकृष्ण के जैसा पूर्ण चरित्र कभी किसी महापुरुष का नहीं हुआ, इसलिए हमें चाहिए कि हम उन्हीं को केन्द्र बनाकर डट जायँ। हाँ, हर एक आदमी उनको अपने अपने ढंग से ग्रहण करे, इसमें कोई रुकावट नहीं डालनी चाहिए। चाहे कोई उन्हें ईश्वर माने, चाहे परित्राता या आचार्य, या आदर्श पुरुष अथवा महापुरुष--जो जैसा चाहे, वह उन्हें उसी ढंग से समझे। हम न तो सामाजिक समता का प्रचार करते हैं, न विषमता का।

पर इतना कहते हैं कि सबको समान अधिकार है, और हम इस पर जोर देते हैं कि उनके शिष्यवर्ग को, क्या विचारों में, क्या कार्य में, पूरी स्वतंत्रता रहे।

हम किसी भी मतावलम्बी--चाहे वह ईश्वरवादी हो, चाहे सर्वेश्वरवादी, चाहे अद्वैतवादी हो, चाहे बहु-ईश्वरवादी, चाहे अज्ञेयवादी हो, चाहे अनीश्वरवादी--को त्यागना नहीं चाहते। पर यदि वह शिष्य होना चाहे, तो उसे केवल इतना ही करना होगा कि वह अपना चरित्र ऐसा बनाये, जो जैसा उदार हो, वैसा ही गम्भीर भी। चरित्र-गठन के बारे में भी हम किसी विशेष नैतिक मत को ही ग्रहण करने के लिए नहीं कहते और न खान-पान के सम्बन्ध में ही सभी को एक निर्दिष्ट नियम पर चलने को कहते हैं। हाँ, हम उन कामों को करने से लोगों को मना करते हैं, जिनसे औरों को कुछ हानि पहुँचे।

धर्माधर्म का इतना ही लक्षण बताकर हम आगे लोगों को अपने ही विचारों पर निर्भर रहने का उपदेश देते हैं। पाप या अधर्म वही है, जो उन्नति में बाधा डालता हो, या पतन में सहायता करता हो; और धर्म वही है, जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि में सहारा मिले। इसके बाद कौनसा मार्ग उपयोगी है, किससे अपना लाभ होगा, यह प्रत्येक व्यक्ति स्वयं सोच और चुन ले और उसी मार्ग से चले; इस विषय में हम सभी को स्वाधीनता देते हैं।...

हमें विश्वास है कि सभी प्राणी ब्रह्म हैं। प्रत्येक

आत्मा मानो अज्ञान के बादल से ढके हुए सूर्य के समान है और एक मनुष्य से दूसरे का अन्तर केवल यही है कि कहीं सूर्य के ऊपर बादलों का घना आवरण है और कहीं कुछ पतला। हमें विश्वास है कि यही सब धर्मों की नींव है, चाहे कोई उसे जाने या न जाने। और मनुष्य की भौतिक, बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक उन्नति के सारे इतिहास का मूल तत्त्व यही है कि एक ही आत्मा भिन्न भिन्न उपाधि या आवरण के द्वारा अपने को अभिव्यक्त करती है।

हमें विश्वास है कि यही वेद का चरम रहस्य है।

हमें विश्वास है कि हर एक मनुष्य को चाहिए कि वह दूसरे मनुष्य को इसी तरह, अर्थात् ईश्वर समझकर सोचे और उससे उसी तरह अर्थात् ईश्वर-दृष्टि से बर्ताव करे; उससे घृणा न करे, उसे कलंकित न करे और न उसकी निन्दा ही करे। किसी भी तरह से उसे हानि पहुँचाने की चेष्टा ठीक नहीं। यह केवल संन्यासी का ही नहीं, वरन् सभी नर-नारियों का कर्तव्य है।

आत्मा में लिंग या जाति-भेद नहीं है, न उसमें अपूर्णता ही है।

हमें विश्वास है कि सम्पूर्ण वेद, दर्शन, पुराण और तन्त्र में कहीं भी यह बात नहीं है कि आत्मा में लिंग, वर्ण या जाति-भेद है। इसलिए हम उन लोगों से सहमत हैं, जो कहते हैं कि धर्म से समाज-सुधार का क्या सरोकार है? फिर उन्हें भी हमारी इस बात को मानना होगा कि उसी कारण धर्म को भी किसी प्रकार

का सामाजिक विधान देने या सब जीवों के बीच वैषम्य का प्रचार करने का कोई अधिकार नहीं, क्योंकि इस कल्पित और भयानक विषमता को बिलकुल मिटा देना ही धर्म का लक्ष्य है।

अगर कोई कहे कि इस बिषमता में से गुजरकर ही हम अन्त में समत्व और एकत्व को प्राप्त कर लेंगे, तो हमारा उत्तर यह है कि वही धर्म जिसकी दुहाई देकर ये बातें कही जाती हैं, बारम्बार कहता है कि कीचड़ से कीचड़ नहीं धुल सकता। अनैतिक बनने से कोई कहीं नैतिक या सच्चरित्र बनता है?

सामाजिक विधान समाज की आर्थिक दशाओं के द्वन्द्व से धर्म के अनुमोदन पर बने हैं। धर्म ने यह भारी भूल की है कि उसने सामाजिक विषयों में हाथ डाला। किन्तु उसका यह कथन कितना पाखण्डपूर्ण है और साथ ही अपनी बातों का खण्डन करता है कि, 'समाज-सुधार से धर्म का क्या मतलब है?' हाँ, अब हमें इस बात की आवश्यकता हो रही है कि धर्म समाज-सुधारक न बने, पर इसीलिए हम यह भी कह देते हैं कि धर्म समाज का व्यवस्थापक न बने। दूर रहो! अपनी सीमा के भीतर रहो और सब ठीक हो जायगा।

शिक्षा का अर्थ है, उस पूर्णता की अभिव्यक्ति, जो सब मनुष्यों में पहले से ही विद्यमान है।

धर्म का अर्थ है, उस ब्रह्मत्व की अभिव्यक्ति, जो सब मनुष्यों में पहले से ही विद्यमान है।

अतः दोनों स्थलों पर शिक्षक का कार्य केवल रास्ते से सब रुकावटें हटा लेना ही है। जैसा मैं सर्वदा कहा करता हूँ--हस्तक्षेप बन्द करो। सब ठीक हो जायगा। अर्थात् हमारा कर्तव्य है, रास्ता साफ कर देना--शेष सब भगवान् ही करते हैं।

इसलिए तुम्हें ये बातें विशेषकर याद रखनी चाहिए कि धर्म का केवल आत्मा से ही काम है, सामाजिक विषयों में हस्तक्षेप करना उसका प्रयोजन नहीं। तुम्हें यह भी याद रखना चाहिए कि जो खुराफात पहले ही हो चुकी है, उस पर भी यही बात पूर्ण रूप से लागू होती है। अब धर्म को समाज से अलग करने की चेष्टा ऐसी ही है कि मानो किसी आदमी नें जबरदस्ती किसी दूसरे आदमी की जमीन छीन ली; और जब वह अपनी जमीन वापस लेनें की कोशिश करने लगे, तो पहला आदमी मानवीय अधिकार की पवित्रता का उपदेश करने लगे!

पुरोहितों को समाज की प्रत्येक छोटी छोटी बात में दस्तन्दाजी करने (जो लाखों मनुष्यों के लिए दुःख-दायी हो) की क्या आवश्यकता थी?

तुमने मांसभोजी क्षत्रियों की बात उठायी है। क्षत्रिय लोग चाहे मांस खायें या न खायें, वे ही हिन्दू धर्म की उन सब वस्तुओं के जन्मदाता हैं, जिनको तुम महत् और सुन्दर देखते हो। उपनिषद् किन्होंने लिखे थे? राम कौन थे? कृष्ण कौन थे? बुद्ध कौन थे? जैनों के तीर्थंकर कौन थे? जब कभी क्षत्रियों ने धर्म

का उपदेश दिया, उन्होंने सभी को धर्म पर अधिकार दिया और जब कभी ब्राह्मणों ने कुछ लिखा, उन्होंने औरों को सब प्रकार के अधिकारों से वंचित करने की चेष्टा की। गीता और व्याससूत्र पढ़ो, या किसी से सुन लो। गीता में मुक्ति की राह पर सभी नर-नारियों, सभी जातियों और सभी वर्णों को अधिकार दिया गया है, परन्तु व्यास गरीब शूद्रों को वंचित करने के लिए वेद की मनमानी व्याख्या करने की चेष्टा करते हैं। क्या ईश्वर तुम जैसा मूर्ख है कि एक टुकड़े मांस से उसकी दया-रूपी नदी के प्रवाह में बाधा खड़ी हो जायगी? अगर वह ऐसा ही है, तो उसका मोल एक फूटी कौड़ी भी नहीं!

मुझसे कुछ आशा मत करना, किन्तु जैसा कि मैं तुमको पहले ही लिख चुका और तुमसे पहले ही कह चुका हूँ कि मुझे दृढ़ विश्वास है कि स्वयं भारतीयों द्वारा ही भारत की उन्नति होगी। इसीलिए कहता हूँ कि हे स्वदेशवासी युवको, क्या तुममें से कुछ लोग भी इस नये आदर्श के कट्टर अनुयायी बन सकते हैं? अनु-शीलन करो, सामग्री इकट्ठी कर श्रीरामकृष्ण की एक छोटीसी जीवनी लिखो। सचेत रहना कि उसमें कोई सिद्धाई की चर्चा न घुसने पाये, अर्थात् वह जीवनी इस ढंग से लिखी जाय कि वह उनके उपदेशों का एक उदा-हरण बन जाय। केवल उनकी ही बातें उसमें रहें। खबरदार, मुझको या किसी और जीवित व्यक्ति को उसमें मत लाना। तुम्हारा मुख्य उद्देश्य होगा उनकी

शिक्षाओं को जगत् में फैलाना, और वह जीवनी उन्हीं का उदाहरण होगी। यद्यपि मैं खुद अयोग्य हूँ, तथापि मेरे जिम्मे एक यह विशेष काम था कि जो रत्न की पेटी मुझे सौंपी गयी थी, मैं उसे तुम्हारे हाथों में दे दूँ। और तुम्हें ही क्यों दूँ ? इसलिए कि जो लोग पाखण्डी, द्वेषपूर्ण, गुलाम स्वभाववाले और कापुरुष हैं और जिन्हें केवल जड़ वस्तुओं पर विश्वास है, वे कभी कुछ नहीं कर सकते। ईर्ष्या ही हमारे दाससुलभ राष्ट्रीय चरित्र का धब्बा है। औरों का तो क्या कहना, स्वयं सर्वशक्तिमान ईश्वर भी इस ईर्ष्या के कारण हमारा कुछ भला नहीं कर सकता। मेरे बारे में समझो कि मुझे जो कुछ करना था वह सब मैं कर चुका—अब मैं मर गया; यही समझो कि सब कामों का भार तुम्हीं पर है। भारत-माता के सपूत युवको, समझो कि तुम्हीं इस काम के लिए विधाता द्वारा भेजे हुए हो। काम में लग जाओ, ईश्वर तुम्हारा भला करे। मुझे छोड़ दो, मुझे भूल जाओ, केवल नये आदर्श, नये सिद्धान्त और नये जीवन का प्रचार करो। किसी आदमी या रीति-रिवाज के विरुद्ध कुछ मत कहना। जातिभेद के पक्ष या विपक्ष में कुछ मत कहना, और न किसी सामाजिक कुरीति के विरुद्ध ही कुछ कहने की आवश्यकता है। केवल लोगों से यही कहो कि 'हस्तक्षेप मत करो'—बस, सब ठीक हो जायगा।

मेरे वीर, दृढ़ और प्राणप्रिय आत्मीय जनो ! तुम्हें आशीर्वाद। विवेकानन्द

हमारी इच्छाशक्ति कितनी स्वतंत्र है ?

स्वामी निखिलानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामीनिखिलानन्द रामकृष्ण-विवेकानन्द सेंटर, न्यूयार्क के अध्यक्ष थे। उनका मूल लेख अंग्रेजी में 'वेदान्त केसरी' मासिक के मई १९६२ अंक में प्रकाशित हुआ था, जहाँ से यह साभार गृहीत और अनूदित हुआ है। -- सं.)

'ईश्वर ही एकमात्र प्रत्येक कार्य के करनेवाले हैं। तब तो तुम यह कह सकते हो कि फिर मनुष्य पाप का कर्ता नहीं है। परन्तु यह सत्य नहीं। यदि मनुष्य में यह विश्वास दृढ हो जाय कि ईश्वर ही एकमात्र कर्ता हैं, वह स्वयं कुछ नहीं है, तो वह कभी गलत कदम नहीं उठा सकता।'

—'श्रीरामकृष्णवचनामृत'

हम सबको स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के प्रश्न का सामना करना पड़ता है। इस समस्या पर सभी प्रमुख धर्मों और दार्शनिक प्रणालियों ने विचार किया है। क्या इच्छा-शक्ति द्वारा हम कुछ भी कर सकने में स्वतन्त्र हैं अथवा किसी अज्ञात शक्ति, जिसे ईश्वर या भाग्य कहते हैं, द्वारा हम परिचालित होते हैं ? ईसाई धर्म के अनुसार जब जीव का निर्माण किया गया, तो वह ईश्वर की प्रतिमूर्ति था; वह पूर्ण था और उसे शुभ एवं अशुभ में से चुनने की स्वतन्त्रता थी। प्रथम पुरुष शुभ और अशुभ में से चुनाव करने में समर्थ था, परन्तु आज मानव, शैतान द्वारा किये गये प्रारम्भिक पाप के फलस्वरूप, पाप को ही चुनता है। इस प्रकार मनुष्य प्रारम्भिक पाप के द्वारा

बँधा हुआ है और वह तब तक मुक्त नहीं हो सकता, जब तक ईश्वर की अनुकम्पा न हो ।

इस विचारधारा को पापमोक्षवादी कालविन के अनुयायियों ने और आगे बढ़ाया है। वे नियति में विश्वास करते हैं। उनके मतानुसार, जीव के निर्माण के पूर्व ही ईश्वर नियत कर लेता है कि उसे बचाया जाय या नरकदण्ड दिया जाय। जन्म के उपरान्त वह मनुष्य कुछ भी क्यों न करे, कोई अन्तर नही पड़ता; यदि नियति में उसका बचना लिखा है, तो वह बच जायगा, और यदि नरकदण्ड निश्चित है, तो उसे वह भुगतना ही होगा। इस प्रकार उनके मतानुसार मनुष्य के पास स्वतन्त्र इच्छाशक्ति नहीं है। परन्तु कालविन ने स्वयं एक महत्त्वपूर्ण बात कही थी। वह यह कि जो ईश्वर के द्वारा बचाने के लिए चुन लिये गये हैं, वे अपने जीवन द्वारा दिखा देंगे कि वे पाप से मुक्त होने के लिए चुने गये हैं।

बुद्ध ऐसे किसी ईश्वर या देवी-देवता को नहीं मानते थे, जो मनुष्य की नियति को बनाता है या कि उसके भाग्य को संचालित करता है। बुद्ध ने हमेशा पुरुषार्थ पर बल दिया था। अपने प्रिय शिष्य के प्रति बुद्ध के अन्तिम शब्द थे, "प्रिय आनन्द, इस जगत् में सब अनित्य है। इसलिए अपने पुरुषार्थ से मुक्ति पाने के लिए लग जाओ।" तथापि बुद्ध कर्म में विश्वास करते थे। उनकी मान्यता थी कि जैसा हम बोएँगे, वैसा काटेंगे; बुरे कर्मों को अच्छे कर्मों द्वारा काटा जा सकता है।

चीनी दर्शन में हम एक शब्द पाते हैं 'मिंग', जो 'भाग्य' का पर्याय है। यह दर्शन उस स्वर्ग के अस्तित्व में विश्वास रखता है, जो मनुष्य के अधिकांश जीवन का निर्धारण करता है, विशेषकर जीवन की अवधि का। उसके मत में मृत्यु-क्षण पूर्वनिश्चित है।

यूनान के प्राचीन दार्शनिक दो शब्दों को उपयोग में लाते थे---'भाग्य' और 'नियति'। उनके मतानुसार भाग्य अनिर्दिष्ट है। कर्म द्वारा भाग्य को बदला जा सकता है। परन्तु नियति निर्दिष्ट है। इसलिए ये यूनानी दार्शनिक मनुष्य के सम्बन्ध में पूर्वनिर्दिष्ट नियति में विश्वास करते थे। उनकी यह धारणा भविष्यवाणी में उनके विश्वास से पोषित होती थी। संकट के क्षणों में या युद्ध के समय व्यक्तिगत और राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर भविष्यवाणियों की सहायता ली जाती थी।

यहूदियों का विश्वास है कि मनुष्य अपने धार्मिक और नैतिक 'भाग्य' का स्वयं मालिक है। शुभ और अशुभ मनुष्य के कर्मों पर निर्भर करते हैं। उसके पास इतनी शक्ति है कि वह चाहे तो अपने को अपवित्र बना ले या पवित्र कर ले। इसमें ईश्वर का कोई हस्तक्षेप नहीं है।

इस्लाम धर्म में कुरान में 'किस्मत' का उल्लेख पाया जाता है। मोहम्मद उन किताबों की बातें कहते हैं, जो जन्नत में रखी हैं और जिनमें मनुष्य के कर्मों का लेखा-जोखा रहता है। इन किताबों के आधार पर ही अन्तिम फैसला किया जाता है। कुरान में कुछ ऐसी भी

आयतें हैं, जिनमें बतलाया गया है कि ईश्वर कुछ लोगों को अशुभ और कुछ लोगों को शुभ कर्म करने के लिए जबरदस्ती करता है और फलस्वरूप उन्हें नरक या स्वर्ग का भोग कराता है।

हिन्दू मान्यता के अनुसार, हम जीवन में कर्म का अदृश्य शासन एवं पुरुषार्थ दोनों का मिला-जुला खेल पाते हैं। भगवद्गीता में अर्जुन श्रीकृष्ण से पूछता है कि किसके द्वारा प्रयुक्त होकर मनुष्य अपनी इच्छा के विरुद्ध पाप-कर्म करता है? मनुष्य अशुभ नहीं करना चाहता, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है, मानो कोई अदृश्य शक्ति उसे ऐसा करने के लिए बाध्य करती है। यह अदृश्य शक्ति क्या है? श्रीकृष्ण उत्तर देते हुए कहते हैं कि मनुष्य के पापपूर्ण कर्मों का कारण बाहर नहीं अपितु उसके भीतर है, और वह है उसमें निहित काम और क्रोध। काम और क्रोध आत्मा के अपने गुण नहीं हैं। ये मनुष्य के विचार-राज्य के आधीन हैं और उसके कर्म में निहित हैं।

हिन्दू धर्म मानता है कि मनुष्य पूर्व में किये कर्मों के आधार पर वर्तमान जीवन का खाका प्राप्त करता है। हमारा पूर्व जीवन वर्तमान जीवन के लिए उत्तरदायी है और वर्तमान के द्वारा भावी जीवन का निर्धारण होता है। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है – सबसे प्रथम पुरुष का क्या हुआ होगा? उसके लिए भी क्या ऐसा कोई खाका तैयार था? हिन्दू दार्शनिकों का कहना है कि प्रथम पुरुष कोई था ही नहीं तथा जन्म और मृत्यु

के इस क्रम का कोई आदि नहीं है। वे मुर्गी और उसके अण्डे का उदाहरण देते हैं। तुम अण्डे के बिना मुर्गी नहीं पा सकते और उसी प्रकार बिना मुर्गी के अण्डा। कौन पहले पैदा हुआ कोई नहीं जानता। इसी प्रकार बिना पूर्वकृत कर्मों के कोई जन्म नहीं हो सकता और ये पूर्वकृत कर्म भी बिना पूर्वजन्म के सम्भव नहीं।

हिन्दू दार्शनिक कहते हैं कि पूर्वकृत कर्मों के प्रभाव को पूर्णतया नष्ट करना अत्यन्त दुष्कर है, परन्तु साथ ही वे मनुष्य के पुरुषार्थ में भी विश्वास रखते हैं। महान् पुरुषार्थ के द्वारा अतीत का प्रभाव प्रायः मिटाया जा सकता है। ऐसी ही शिक्षा हमें भगवद्गीता में मिलती है – 'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्' (अपने को अपने द्वारा ऊँचा उठाओ, कभी नीचे न गिराओ)। श्रीकृष्ण की यह शिक्षा सबके लिए है। वे आगे कहते हैं 'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः' (तुम अपने सबसे बड़े मित्र हो और तुम्हीं अपने सबसे बड़े शत्रु हो)। हम बाइबिल में भी पढ़ते हैं कि ईसा मसीह ने कहा था, "तुम स्वर्ग में स्थित पूर्ण-पिता के समान ही पूर्ण बन जाओ"। वे भी सबके ही प्रति ऐसा कह रहे थे। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक व्यक्ति पूर्णता को पा सकता है, मुक्ति हर एक का जन्म-सिद्ध अधिकार है।

हिन्दुओं के दृष्टिकोण के अनुसार यद्यपि पूर्वकृत कर्मों का परिणाम और प्रभाव अत्यन्त प्रबल है, तो भी इसी जीवन में उचित कर्मों के द्वारा काफी हद तक उसे

प्रभावहीन बनाया जा सकता है। श्रीरामकृष्ण देव कहा करते थे कि यदि नियति में तुम्हें कुल्हाड़ी की मार खाना बदा है, तो पुरुषार्थ से उसे काँटे की चुभन में परिणत किया जा सकता है। इसलिए हिन्दूधर्म अदृष्ट नियति और पुरुषार्थ दोनों को स्वीकार करता है।

हम भगवद्गीता में पढ़ते हैं कि किसी भी कार्य को सम्पन्न करने में पाँच साधनों की आवश्यकता होती है। प्रथम है 'अधिष्ठान' यानी शरीर जो सामान्यत: स्वस्थ हो। दूसरा है 'कर्त्ता' यानी जीव, उसे भी अच्छी दशा में होना चाहिए। तीसरा है विभिन्न 'करण' यानी इन्द्रियाँ। चौथा है विविध 'चेष्टाएँ' यानी प्राणों की विभिन्न क्रियाएँ। और पांचवा है 'दैव' यानी अदृश्य नियति, जिसका अर्थ पूर्वकृत कर्म हो सकता है या ईश्वरीय इच्छा। ईश्वरीय इच्छा को भगवद्गीता में सर्वोपरि माना गया है। हम पढ़ते हैं -

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढ़ानि मायया ।।

-- 'अर्जुन ! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में विराजमान हैं और वे अपनी माया से सबको इस प्रकार चला रहे हैं, मानो वे सब एक चक्र में बैठे हों।'

हम महाभारत में पढ़ते हैं, दुर्योधन कहता है --

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनाऽपि देवेन हृदिस्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ।।

—'मैं जानता हूँ कि अच्छा क्या है, पर उसे करने में मेरी प्रवृत्ति नहीं होती। मैं यह भी जानता हूँ कि बुरा क्या है, फिर भी उसे छोड़ने की मेरी इच्छा नहीं होती। कोई देव मेरे हृदय में बैठा हुआ है, वह जैसा कराता है मैं करता हूँ।'

यदि यही सत्य हो कि हमारे अन्तस्तल में विराजमान ईश्वर हमें इस प्रकार परिचालित करते हैं, मानो हम किसी यंत्र में बैठे हों, तब फिर अशुभ विचारों से मुक्ति कैसे पायी जा सकती है ? इस पर गीता बतलाती है—'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'—'ईश्वर में सब प्रकार से शरण लो।' इस तरह तुम देखोगे कि स्वतन्त्र इच्छाशक्ति या भाग्य का प्रश्न बड़ा ही गूढ़ है। उसे अपने सीमित तर्कों द्वारा सुलझाना असम्भव-सा है।

यहाँ मैं इस प्रश्न पर हिन्दू दर्शन के अनुसार चर्चा करूँगा, परन्तु उसके पूर्व मैं कुछ बातों पर साधारण रूप से विचार करना चाहता हूँ।

केनोपनिषद् में कथा आती है कि ब्रह्म ने देवताओं के लिए दैत्यों के ऊपर विजय प्राप्त की, और उस विजयलाभ से देवता लोग अत्यन्त गर्वित हो गये तथा आपस में डींग हाँकने लगे कि उन्हीं लोगों के प्रयास से यह विजय मिली है। यह जानकर ब्रह्म एकाएक उनके सम्मुख यक्ष के रूप में प्रगट हो गये। देवतागण यह जानने के लिए उत्सुक हो उठे कि वह यक्ष कौन है और सर्वप्रथम अग्निदेव को पता लगानें का कार्य सौंपा गया। जब अग्निदेव

उसके सम्मुख पहुँचे, तो यक्ष ने उनका परिचय पूछा। अग्नि ने कहा, "मैं अग्नि का देवता हूँ।" "आप क्या कर सकते हैं ?" यक्ष ने पुनः पूछा। "अजी, मैं सब कुछ जला सकता हूँ," उन्होंने उत्तर दिया। तब यक्ष ने उनके सामने एक तिनका रख दिया और उसे जलाने के लिए कहा। अग्नि ने अपनी समस्त शक्ति के साथ उसे जलाने का प्रयास किया, पर वे ऐसा न कर सके, इसलिए लज्जित हो देवताओं के पास लौट आये। तब देवताओं ने वायु के देवता को यक्ष का परिचय जानने भेजा। पर वायु के देवता के साथ भी वैसा ही घटा। वे अपनी सारी शक्ति भर उस तिनके को उड़ाने की कोशिश करते रहे, पर न उड़ा सके। इस प्रकार एक के बाद एक विभिन्न देवता यक्ष के सामने आते गये और असफल होने पर लज्जित हो लौटते गये। तब अन्त में, इन्द्रदेव स्वयं सामने आये, पर यक्ष अन्तर्धान हो गया और उसके स्थान पर दिव्य वस्त्राभरणों से युक्त एक नारी खड़ी थी। वह सार्व-भौमिक शक्ति के प्रतीक हिमालय की पुत्री उमा थी। इन्द्र उनके पास गये और पूछा, "वह यक्ष कौन था ?" उमा ने बतलाया, "अरे, वही तो साक्षात् ब्रह्म था। ब्रह्म की विजय के कारण ही तुम्हें यह कीर्ति मिली है।" इस प्रकार विभिन्न देवता ब्रह्म के केवल यन्त्रमात्र हैं। हम उपनिषद् में पढ़ते हैं—'उसी की शक्ति से अग्नि जलाती है, पवन सुखाता है, जल भिगोता है और मृत्यु अपना कार्य सम्पन्न करती है।'

श्रीरामकृष्ण देव के अन्तरंग शिष्य स्वामी सारदानन्द ने हमें इच्छाशक्ति से सम्बन्धित एक घटना सुनायी थी। वे तब मेडिकल के विद्यार्थी थे। उन दिनों, उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त अन्त में, वैज्ञानिक लोग नास्तिक हुआ करते थे। डाक्टरों ने मानव-शरीर की चीरफाड़ की थी और उसके अन्दर उन्हें किसी आत्मा के दर्शन नहीं हुए थे। वैज्ञानिकों ने नभोमण्डल में दूरबीन की सहायता से दूर दूर तक देखा था और उन्हें ईश्वर कहीं नजर नहीं आया था। इसलिए उनके अनुसार आत्मा और ईश्वर का कोई अस्तित्व ही नहीं था। एक दिन इस युवक ने, जो बाद में स्वामी सारदानन्द बना, श्रीरामकृष्ण के पास जाकर स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के पक्ष में अपने तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा, "ईश्वर की इच्छा का प्रश्न ही कहाँ आता है ? मैं जो चाहूँ करने में समर्थ हूँ। मैं प्रयोग करता रहा हूँ और जो भी मैं करना चाहता हूँ, वह करने में समर्थ हुआ हूँ।" इस पर श्रीरामकृष्ण ने उससे कहा, "इसी विचारधारा को कुछ समय तक पकड़े रहो और देखो कि क्या होता है।" लगभग एक महीने के पश्चात् वह श्रीरामकृष्ण के पास पुनः आया और कहने लगा, "मैंने कुछ खोज की है। मैं अपना निरीक्षण करता रहा और अब मैं देखता हूँ कि मैं अपनी मर्जी से कुछ नहीं कर सकता; यहाँ तक कि अत्यन्त क्षुद्र कार्य भी मेरे बस के बाहर है। पहले मैं बड़े से बड़ा कार्य कर सकता था, पर अब एक अतीव साधारण कार्य भी करने

में समर्थ नहीं हूँ। मैं भ्रमित हो गया हूँ।" श्रीरामकृष्ण ने तब कहा, "सुनो, मैं एक भजन गाता हूँ। उसे तुम सावधानी से सुनकर याद कर लो और प्रतिदिन उसके अर्थ पर चिन्तन करो।" श्रीरामकृष्ण ने गाया –

हे प्रभो ! तुम मेरे सर्वस्व हो – मेरे प्राणों के प्राण,
अन्तरात्मा हो।
तीनों लोकों में मेरा कोई नहीं सिवाय तुम्हारे जिसे
मैं अपना कह सकूँ;
तुम्हीं मेरी शान्ति, मेरा आनन्द, मेरी आशा हो;
मेरा आधार, मेरा धन, मेरा गौरव हो।
तुम्हीं मेरे विवेक हो और हो मेरी शक्ति।
तुम्हीं मेरे गृह हो, मेरे विश्राम-स्थल हो; मेरे सबसे
प्रिय सखा
और सबसे नजदीकी सम्बन्धी हो;
मेरे वर्तमान और भविष्य हो, तुम्हीं मेरा स्वर्ग
और मुक्तिधाम हो।
तुम्हीं मेरे शास्त्र हो, मेरी शास्त्राज्ञा हो; तुम्हीं
मेरे कृपालु गुरु हो;
तुम्हीं मेरे असीम आनन्द के स्रोत हो।
तुम्हीं पथ हो और तुम्ही लक्ष्य हो; तुम्हीं एकमात्र
प्रेमास्पद हो,
हे प्रभो !
तुम्हीं करुणामयी माँ हो; तुम्हीं सजा देनें वाले
पिता हो;

तुम्हीं स्रष्टा और पालनहार हो; तुम्हीं मेरी जीवन-नौका को भव-सागर के पार ले जाने वाले कर्णधार हो।

स्वामी सारदानन्द ने इस गीत को कण्ठस्थ कर इसके अर्थ पर अपना ध्यान केन्द्रित किया और उनके समस्त संशय धुल गये।

(अगले अंक में समाप्य)

धर्मप्रसंग में स्वामी ब्रह्मानन्द

अनु० – स्वामी व्योमानन्द

(श्रीमत् स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज रामकृष्ण मठ एवं मिशन के प्रथम अध्यक्ष थे। विभिन्न अवसरों पर दिये गये उनके कुछ आध्यात्मिक उपदेश कतिपय संन्यासियों एवं भक्तों द्वारा लिपिबद्ध कर लिये गये थे। उन्हीं उपदेशों का कुछ अंश मूल बँगला ग्रन्थ के रूप में 'उद्‌बोधन कार्यालय' द्वारा प्रकाशित किया गया। उसी का धारावाहिक अनुवाद यहाँ पर 'उद्‌बोधन कार्यालय' के सौजन्य से प्रकाशित किया जा रहा है।'--सं०)

स्थान – बेलुड़ मठ

१ जून १९१३

प्रश्न–महाराज, व्याकुलता कैसे होती है?

उत्तर-सत्संग और गुरु के उपदेश के अनुसार साधन-भजन करते करते मन जब शुद्ध होगा, तब व्याकुलता आयेगी।

कुछ भक्तों को लक्ष्य कर महाराज नें कहा, साधु के पास आने से कुछ पूछना चाहिए। तुम लोग कुछ पूछो।

प्रश्न–महाराज, शान्ति कैसे मिलेगी ?

उत्तर–भगवान् पर प्रेम होने से ही शान्ति मिलती है। ठीक ठीक शान्ति क्या एकदम से मिल जाती है ? उनके लिए व्याकुल होकर रोना पड़ेगा, उनके दर्शन नहीं हुए यह सोचकर व्याकुलता से छटपटाना होगा, तब कहीं शान्ति मिलेगी। संसार के भोग-सुख से लोगों को जब शान्ति नहीं मिलती, जब विरक्ति का अनुभव होता है, तव कहीं भगवान् के प्रति आकर्षण होता है। अशान्ति जितनी अधिक होगी, शान्ति भी उतनी ही अधिक मिलेगी। प्यास जितनी ज्यादा लगती है, पानी उतना ही अच्छा लगता है। इसीलिए महापुरुष लोग कहते हैं – शान्ति चाहिए तो अशान्ति को उभाड़ना पड़ता है।

प्रश्न–प्रेम कैसे होता है ?

उत्तर–उनके लिए साधना और प्रार्थना इत्यादि करने से प्रेम होता है।

प्रश्न–संसार में रहने से हो पाता है या नहीं ?

उत्तर–संसार के बाहर क्या कोई है ?

प्रश्न–नहीं, मेरा मतलब है कि स्वजन-कुटुम्ब के बीच रहने से हो पाता है या नहीं ?

उत्तर–होता है, किन्तु कठिनाई से।

प्रश्न–संसार से वैराग्य होने पर संसार को छोड़ूँ या नहीं।

उत्तर–छोड़ना उचित है। इसी का नाम वैराग्य है। ठीक ठीक वैराग्य एक बार होने पर धधकती अग्नि के

समान वह अधिकाधिक बढ़ता जाता है। ठाकुर एक दृष्टान्त देते थे। जिस प्रकार मछली को बहुत बड़े तालाब में डालने से वह आनन्द से तैरती है, उसी प्रकार जिसने संसार का त्याग किया है, उसे भी आनन्द होता है; वह फिर से संसार में बद्ध होना नहीं चाहता।

प्रश्न–क्या गुरु के बिना नहीं होता ?

उत्तर–मैं तो समझता हूँ, नहीं—किसी भी हालत में नहीं। गुरु वे ही हैं, जो किसी निर्दिष्ट मंत्र के द्वारा इष्ट की प्राप्ति का मार्ग दिखा देते हैं। गुरु एक ही होते हैं, उपगुरु अनेक हो सकते हैं। सद्गुरु बतला देते हैं, इस इस तरह से साधना करो, और सत्संग करो। पहले नियम था––गुरुगृह में वास। गुरु शिष्य पर नजर रखते थे, शिष्य भी गुरु-सेवा करता था। शिष्य के गलत मार्ग पर जाने से गुरु उसे ठीक पथ पर वापस ले आते थे। इसीलिए ब्रह्मवित् या सिद्ध महापुरुष के सिवाय दूसरा गुरु करना ठीक नहीं।

प्रश्न–सिद्धगुरु को कैसे पहचाना जाय ?

उत्तर–कुछ दिन उनके संग में रहने से ही पहचाना जा सकता है। गुरु भी शिष्य को परखते हैं। यदि वे समझें कि शिष्य में प्रबल विषयानुराग है और उसे विषयों से सहज ही विलग नहीं किया जा सकता, तो फिर वे उसे दीक्षा न दे वापस भेज देते हैं। और यदि समझें कि उसमें विवेक-वैराग्य है, तब तो उसको अपने अति निकट रखते हैं और साधना के पथ पर धीरे-धीरे अग्रसर करा

देते हैं। कुलगुरु को एक सुविधा यह है कि वे उसके वंश की सारी खबर जानते हैं।

× × × ×

प्रश्न—महाराज, मन कैसे एकाग्र हो ?

उत्तर—मन को एकाग्र करने के उपाय हैं — साधन-भजन, ध्यान-धारणा इत्यादि। प्राणायाम भी एक उपाय है। किन्तु संसारी व्यक्तियों के लिए वह safe (निरापद) नहीं है। इस समय ठीक ठीक ब्रह्मचर्य का पालन न कर सकने पर रोग हो जाता है। प्राणायाम के समय सात्विक आहार, उत्तम स्थान, विशुद्ध वायु—यह सब चाहिए। ध्यान-धारणा के लिए कोई condition (शर्त) नहीं है। निर्जन स्थान में ध्यान का अभ्यास करने से ही हुआ। रोज एक-दो घण्टा ही ध्यान-धारणा करनी होगी ऐसी बात नहीं; जितना अधिक कर सकोगे, उतना ही मन एकाग्र होकर भगवान् की ओर अग्रसर होगा। प्रतिदिन नियमित रूप से अभ्यास करना होगा। जहाँ भी जाओगे सुन्दर-सुन्दर स्थान, सुन्दर-सुन्दर scenery (प्राकृतिक दृश्य) देखने से ही ध्यान करने बैठ जाना। उन्हें ढूँढ़ो। कामिनी-कांचन त्याग कर एकमात्र उन्हें ही अवलम्बन बनाओ। पर सबसे पहले भीतर में त्याग आना चाहिए। इन सब अनित्य वस्तुओं से मन को पहले निकाल लेने पर बाहर का त्याग अपने आप हो जायगा।

प्रश्न—महाराज वेदान्त के 'ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या' इस कथन का क्या अर्थ है ?

उत्तर–उसका अर्थ यह है कि जगत् को हम लोग जैसा देखते हैं, वह सब मिथ्या है। समाधि में जगत् नहीं रहता, सुषुप्ति के बाद मन में जैसा आनन्द रहता है, तब निरन्तर वैसा ही आनन्द का अनुभव होता रहता है । ऋषिलोग जब समाधि से नीचे आते हैं, तब उनसे पूछने पर वे कहते हैं– आनन्द ! आनन्द ! और कुछ कह नहीं सकते । तब 'हम' 'तुम' कुछ भी नहीं रहता, रहता है सिर्फ सच्चिदानन्द । वे साकार भी हैं, निराकार भी हैं, और इसके परे भी ।

प्रश्न–महाराज, ईश्वर हैं इसका प्रमाण क्या है ?

उत्तर–साधुओं ने कहा है– 'हम लोगों ने उन्हें पाया है, तुम लोग भी इस तरह अग्रसर होने पर पाओगे ।' ठाकुर कहते थे – 'भाँग-भाँग कहने से नशा नहीं चढ़ता । भाँग लाओ, पीसो, चढ़ाओ, फिर कुछ समय तक ठहरो, तब कहीं नशा चढ़ेगा ।' सिर्फ भगवान् - भगवान् कहने से नहीं होगा । साधना करो, फिर उनकी कृपा की अपेक्षा करो । समय पर उनका दर्शन पाओगे ।

प्रश्न–महाराज, जप करते करते कभी कभी मन शून्य सा हो जाता है—यह क्या है ?

उत्तर–पतंजलि ने कहा है, 'वह विघ्न है ।' ध्यान यानी उनका निरन्तर चिन्तन करना । वह प्रगाढ़ होने से, प्रत्यक्ष अनुभूति होने से समाधि होती है । समाधि के बाद आनन्द की लाट बहुत समय तक बनी रहती है । कोई कोई कहते हैं, जीवन भर बनी रहती है ।

...चैतन्यदेव ने एक शिष्य को राय रामानन्द के पास भेजा था। पहले उन्होंने उसे देखकर विलासी समझा था। किन्तु भगवान् का नाम लेते ही उसके भीतर से मानो प्रेम का फुहारा उठने लगा। साधु ही साधु को पहचान सकते हैं। साधना करके उच्चावस्था प्राप्त किये बिना उस अवस्था के व्यक्ति को पहचाना नहीं जा सकता। कहावत है—हीरे का दाम बैंगन बेचनेवाला क्या जाने ?

प्रश्न–महाराज, ठाकुर भक्तों से कहते थे, "निर्जन में, गुप्त रूप से, रोते रोते भगवान् को पुकारना; चाहे एक वर्ष तक हो, या तीन माह या तीन दिन ।" साधुसंग और निर्जन में साधन-भजन इन दोनों में से किसी पर अधिक stress (जोर) देना हमें उचित है ?

उत्तर–दोनों ही करना होगा। निर्जन में ध्यान करने से मन सहज ही अन्तर्मुखी हो जाता है, फालतू चिन्ताएँ कम आती हैं। थोड़ी उन्नति हुए बिना पूर्ण निर्जनवास नहीं किया जा सकता। बहुत से लोग एकदम निःसंग होने की कोशिश करने से पागल हो गये हैं। समाधिस्थ हुए बिना, भगवान् में मन के लीन हुए बिना मन ठीक ठीक निःसंग नहीं होता।

साधुसंग की भी सदैव आवश्यकता है। एक व्यक्ति त्रैलंग स्वामी के पास गया था। उन्हें देख वह सोचने लगा, ये बातचीत नहीं करते, इनके पास आने से क्या लाभ ? यह सोचकर उस दिन वह वापस आ गया।

अन्य किसी दिन जाकर उनके पास कुछ क्षण बैठे रहा। उस दिन देखा, स्वामीजी अत्यन्त व्याकुल होकर रो रहे हैं, कुछ क्षण बाद खूब हँसने लगे। उनका यह भाव देख उस व्यक्ति ने उस दिन कहा था, "आज जो सीखा, वह हजार पुस्तकें पढ़कर भी नहीं सीख सकता था। भगवान् के लिए जब ऐसी व्याकुलता आएगी, तभी उनके दर्शन होंगे, और तभी आनन्द की प्राप्ति होगी।"

•

विवेकानन्द-भक्त-गाथा

स्वामी निश्चयानन्द

डा० नरेन्द्र देव वर्मा

सन् १८९७ के फरवरी मास में स्वामी विवेकानन्द शिकागो में आयोजित विश्वधर्मपरिषद् में वेदान्त का अमृत सन्देश सुनाकर जगद्गुरु के पद पर अधिष्ठित हो भारत लौट रहे थे। स्थान स्थान पर उनका अभूतपूर्व अभिनन्दन हो रहा था। समाचार पत्रों में स्वामीजी के भारत आगमन का समाचार विद्युद्वेग से फैल चुका था और जनता युगाचार्य की एक झलक पाने के लिए बेचैन हो उठी थी। स्वामीजी कुम्भकोणम से एक विशेष ट्रेन द्वारा मद्रास जा रहे थे। रास्ते के स्टेशनों पर जनसमुदाय उनके दर्शन के लिए उमड़ पड़ा था। मायावरम में धर्म-प्राण जनता ने भारतात्मा विवेकानन्द की जो भावविह्वल अभ्यर्थना की थी, उसका उत्तर देते हुए स्वामीजी ने

कहा था, "मैंने कोई विशेष बड़ा काम नहीं किया है। मेरी अपेक्षा कोई भी इसे और भी अच्छा कर सकता था। फिर भी प्रभु ने मुझे जो कुछ करने के लिए भेजा था, मैं उसे करके आ रहा हूँ। मेरी क्षुद्र शक्ति के प्रति आप लोगों ने जो सम्मान प्रदर्शित किया है, उसके लिए मैं आपका आभारी हूँ।"

मायावरम से स्वामीजी की गाड़ी मद्रास के लिए रवाना हुई। रास्ते में और भी छोटे-छोटे स्टेशन थे, पर गाड़ी बीच में कहीं रुकने वाली नहीं थी। एक ऐसे ही छोटे स्टेशन पर बहुत से लोग स्वामीजी का दर्शन प्राप्त करने के लिए खड़े थे। उनमें एक मराठा सैनिक सूरज राव भी थे। गाड़ी के न रुकने की खबर पाकर सभी हताश हो चले थे, पर राव हिम्मत हारने वाले नहीं थे। उन्होंने जनसमुदाय को संगठित कर स्टेशन मास्टर से स्वामीजी की गाड़ी को कुछ क्षणों के लिए रोकने का अनुरोध किया पर यह स्टेशन मास्टर के बस की बात नहीं थी। अब स्वामीजी के दर्शन कैसे हों? राव ने अन्त में सब लोगों को इकट्ठा कर एक उपाय सुझाया। फिर क्या था, सैकड़ों लोग पटरी पर लेट गये और बाकी जनता पट-रियों पर खड़ी हो गयी। स्वामीजी की ट्रेन को वहाँ रुकना पड़ा। समवेत लोगों ने अपलक दृष्टि से युगाचार्य की देवदुर्लभ छवि के दर्शन किये। राव के मानो प्राण ही नेत्रों में आ गये। स्वामीजी की वह अलौकिक भंगिमा उनके हृदयतल पर प्रतिष्ठित हो गयी। स्वामीजी बहुत

देर तक हाथ जोड़े खड़े रहे और ट्रेन के रवाना होने पर उन्होंने हाथ हिलाकर लोगों को आशीर्वाद दिया। स्वामीजी के प्रथम दर्शन ने राव के मन-प्राण में एक अभूतपूर्व व्याकुलता का संचार कर दिया। वे उन्हें निरन्तर देखते रहना चाहते थे, उनके पादपद्मों में अपने जीवन प्रसून को समर्पित कर अपना जीवन धन्य करना चाहते थे। उन्हें पता चला कि स्वामीजी मद्रास में कुछ दिनों तक निवास करने वाले हैं। उनके पास में पैसा नहीं था और उनमें इतना धैर्य भी नहीं था कि वे पैसे का प्रबन्ध कर रेल से मद्रास पहुँचें। वे पैदल ही मद्रास की ओर चल पड़े।

जल्दी पहुँचने के विचार से राव समुद्र के किनारे किनारे द्रुत गति से चल रहे थे। आहार-निद्रा की तो क्या समय की सुधि भी उन्हें नहीं थी। दिन कब ढला और रात कब की आ गयी, इसका ज्ञान उन्हें नहीं हुआ। रात के गहरे अन्धकार में उन्होंने देखा कि सागर-तट असंख्य दीपों से जगमगा उठा है, मानो दीपावली मनायी जा रही हो। उन्होंने एक व्यक्ति से पूछा कि आज भला कौन सा उत्सव मनाया जा रहा है? उसने उत्तर दिया, "जानता नहीं, जगद्गुरु आ गिया?" स्वामीजी के आगमन पर दरिद्र धीवरों ने भी दिये जलाकर स्वामीजी की अभ्यर्थना की थी। राव मद्रास का रास्ता नहीं जानते थे। बहुत रात तक चलने के बाद उन्हें पता चला कि वे मद्रास से सात मील दूर चले आये हैं। उन्होंने एक नदी के किनारे

बैठकर सारी रात काट दी और भोर होते ही स्वामीजी का निवास स्थान पूछते हुए विलगिरी आयंगर के घर पहुँचे, जहाँ स्वामीजी ठहरे हुए थे । वहाँ भी सैकड़ों लोग स्वामीजी का दर्शन प्राप्त करने के लिए खड़े हुए थे। लगभग पाँच घण्टों की प्रतीक्षा के वाद राव स्वामीजी के पास पहुँचे और प्रणाम करके एक कोने में खड़े हो गये। कुछ देर वाद स्वामीजी ने उनकी ओर देखा और उनका परिचय पूछा। फिर उन्हें स्नान-भोजन कर शाम को मिलने को कहा। सन्ध्या को स्वामीजी के पूछने पर राव ने बताया कि वे संसार में नहीं रहना चाहते और उनके चरणों के समीप रहकर अपना जीवन कृतार्थ करना चाहते हैं। इस पर स्वामीजी ने राव से कहा, "अभी तो नहीं। वाद में कलकत्ता में मिलना।"

सूरज राव सैनिक थे। सेना से अवकाश प्राप्त करना प्रायः कठिन होता है । वे मद्रास से लौटकर स्वामीजी के पास पहुँचने के लिए छटपटाने लगे। काम-काज के प्रति वे बिलकुल अन्यमनस्क से हो गये। उनकी दशा देख उनके साथियों ने सोचा कि सम्भवतः उन्हें मनोविकार हो गया है । उन्हें चिकित्सालय में भरती कराया गया और बहुत दिनों तक उनकी दशा में कोई सुधार नहीं हुआ। अन्त में उनके रोग को असाध्य समझकर उन्हें सेना से बर्खास्त कर दिया गया । राव तो यही चाहते थे। वे तत्काल कलकत्ता के लिए रवाना हुए और बेलुड़ मठ पहुँच गये।

वे दोपहर को बेलुड़ मठ में उपस्थित हुए और उन्होंने स्वामीजी के दर्शन की इच्छा प्रकट की। सेवक से किसी दर्शनार्थी के आगमन की वात जानकर स्वामीजी ने उसके नहलाने–खिलाने की व्यवस्था करा दी और उसे सन्ध्या के समय आने के लिए कहलवा भेजा। पर राव तो विना स्वामीजी का दर्शन किये मुख में जल डालने के लिए भी तैयार नहीं थे। उन्होंने सेवक से कहा, "मैं नहाना-खाना नहीं चाहता। मैं बड़ी दूर से स्वामीजी के दर्शनों हेतु आया हूँ। मैं यहीं बैठकर उनकी प्रतीक्षा करूँगा।" उन दिनों स्वामीजी का स्वास्थ्य ठीक नहीं था तथा उस समय वे आहार करके विश्राम कर रहे थे। पर सेवक से यह वात जानकर वे तुरन्त नीचे आये। राव ने भावाकुल नेत्रों से स्वामीजी को देखते हुए साष्टांग प्रणाम किया। स्वामीजी ने पूछा, "तुम क्या चाहते हो?" राव ने कहा, "मैं कुछ नहीं चाहता, केवल आपका दास होना चाहता हूँ।" राव की आत्यन्तिक आकांक्षा और लगन स्वामीजी से छिपी नहीं रही। उनकी अन्तर्भेदिनी दृष्टि ने राव के हृदय को टटोलकर उनके जीवन का प्रयोजन जान लिया। वे समझ गये कि यह धूलि-धूसरित मराठा युवक उनके युगकार्य का सहचर है। उन्होंने सहर्ष राव को मठ में रहने की अनुमति दे दी और कुछ दिनों के वाद उन्हें संन्यास-व्रत में दीक्षित कर स्वामी निश्चयानन्द बना दिया।

सूरज राव महाराष्ट्र के दक्षिण कानड़ा स्थित जाना-

जिरार के पास के एक गाँव में सन् १८६५ में एक दरिद्र क्षत्रिय-परिवार में उत्पन्न हुए थे। दरिद्रता के कारण उन्हें अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला, पर वे मराठी भाषा जानते थे तथा एक-दो दक्षिणी भाषाओं का भी उन्हें ज्ञान था। वाद में तो वे बँगला भी समझ-बोल लेते थे। स्कूल की पढ़ाई समाप्त करके वे सेना में भरती हो गये। यद्यपि राव के मन में संसार के प्रति तीव्र वैराग्य था, पर दरिद्रता के कारण उन्हें सैन्य जीवन स्वीकार करना पड़ा था। उनमें देशभ्रमण और तीर्थ-दर्शन की बड़ी इच्छा थी। एक सैनिक के रूप में उन्हें दूर दूर तक यात्रा करने का अवसर मिला और उनकी यह इच्छा पूरी भी हुई। वे ब्रह्मदेश, स्याम, जिब्राल्टर, माल्टा आदि देशों का भ्रमण कर चुके थे तथा ब्रह्मदेश में रहते समय उन्होंने अन्दमान द्वीपसमूह की भी यात्रा की थी। राव बड़े ही कुशल सैनिक थे तथा उनका निशाना बड़ा अचूक था। ब्रह्मदेश में उन्हें लांस कार्पोरल के पद पर उन्नत भी कर दिया गया था। जब वे मध्यप्रदेश में रायपुर नामक स्थान में सरकारी कार्य से आये हुए थे, तब उनकी भेंट श्रीरामकृष्ण देव के त्यागी शिष्य स्वामी निरंजनानन्दजी से हुई, जो अपने परिव्रजन-काल में पहुँचे थे। निरंजनानन्द ने ही रावजी को श्रीरामकृष्ण देव और स्वामी विवेकानन्दजी की कथा सुनायी थी और उनके मन की छिपी आध्यात्मिकता को उभार दिया था। तब से रावजी स्वामीजी के दर्शन की

आकांक्षा लिये बैठे थे और उनके प्रथम दर्शन ने तो उनकी जीवनधारा को ही बदलकर रख दिया था।

बेलुड़ मठ में वास करते हुए निश्चयानन्द में गुरु-सेवा और विश्वास के दुर्लभ मानवीय गुणों का विकास हुआ था। युगाचार्य के पाद-प्रदेश में निवास करते हुए उन्होंने यह जान लिया था कि ज्ञानी विचार के द्वारा, भक्त भक्ति के द्वारा और योगी योग के द्वारा जो पद प्राप्त करते हैं, वही पद शिव-भाव से जीव-सेवा के माध्यम से पाया जा सकता है तथा यह स्वामीजी की विश्व-धर्म-साधना को एक अपूर्व देन है। निश्चयानन्द के जीवन में गुरु की कृपा से अनेक आध्यात्मिक प्रवृत्तियों का आविर्भाव हुआ था। एक बार बेलुड़ मठ के लिए गाय खरीदने का निश्चय किया गया। निश्चयानन्द पर दक्षिणेश्वर के आड़ियादह स्थान के एक ग्वाले से गाय खरीदकर लाने का भार सौंपा गया। निर्भयानन्द तथा अन्य एक साधु भी साथ थे। तब दक्षिणेश्वर और बेलुड़ के मध्य गंगा नदी पर पुल नहीं था। गाय को नाव पर चढ़ाकर लाना था। स्वामीजी ने निश्चयानन्द से कहा था कि गाय की रस्सी पकड़े रहना, इससे गाय भाग नहीं सकेगी। निश्चयानन्द गाय खरीदकर बेलुड़ के लिए रवाना हुए। गाय को नाव में चढ़ाया गया। तब गंगा में पूर था। जैसे ही नाव गहराई में पहुँची कि गाय अथाह जलराशि को देखकर भड़क उठी और नदी में कूद पड़ी। निश्चयानन्द ने रोकने की बहुत कोशिश की, पर वे उसे

रोक नहीं पाये। उनके हाथों में गाय की रस्सी थी। वे भी गाय के साथ ही गंगा में गिर गये। वे बहुत दूर तक गाय के साथ बहते बहते चले गये। जब गाय किनारे लगी, तब बड़ी कठिनाई से वे गाय को कीचड़ से निकालकर बेलुड़ मठ ला पाये थे। इधर स्वामीजी अत्यन्त उद्विग्न हो गये थे और बड़ी बेचैनी से इधर-उधर टहल रहे थे। निश्चयानन्द को देखते ही उन्होंने कहा, "अरे, तू मूर्ख के समान एक गाय के पीछे अपने प्राण क्यों गँवा रहा था ?" तब निश्चयानन्द बोले, "महाराज ! आपने मुझे गाय लाने के लिए भेजा था। मैं गाय को छोड़कर कैसे आ सकता था ?" स्वामीजी ने सब कुछ समझते हुए कहा, 'ठीक ! मैंने तुम्हें गाय लाने के लिए कहा था, फिर भला तुम उसे छोड़कर कैसे आते ? तुम्हारे लिए यह सम्भव नहीं था।"

श्रीगुरु के वचनों पर आत्यन्तिक श्रद्धा का भाव निश्चयानन्द के जीवन में पूरी तरह से उतरा था। वे स्वामी तुरीयानन्दजी पर भी गुरु के समान ही श्रद्धा रखते थे। कालान्तर में जब तुरीयानन्दजी उत्तरकाशी में तपस्या कर रहे थे, तब निश्चयानन्द भी वहाँ पहुँचकर उनकी सेवा में लग गये। एक बार तुरीयानन्दजी गंगा में स्नान कर रहे थे। अचानक उनकी चादर हाथ से छूटकर धारा में बहने लगी। तब निश्चयानन्द भी पास ही थे। तुरीयानन्दजी चादर को बहते देख कह उठे, "ओ रे निश्चय ! चादर तो गयी, गयी !" यह सुनते ही

निश्चयानन्द तुषार शीतल जल में कूद पड़े और अनेकानेक चट्टानों से टकराते हुए वे चादर को पकड़ने के लिए बह चले। उनकी देह पत्थर की चोटों से लहूलुहान हो गयी, पर अन्ततः वे चादर को निकाल ही लाये। तुरीयानन्दजी ने उनका तिरस्कार करते हुए कहा, "सामान्य वस्तु के लिए तुम प्राण देने चले गये ?" लहूलुहान निश्चयानन्द ने कहा, "महाराज! आपने ही तो कहा था--"निश्चय, यह गयी ! मैं उसे पकड़ नहीं सका। मेरे पास रहते आपकी चादर चली जाय, यह नहीं होने का।" तुरीयानन्दजी उनकी ऐसी दृढ़ता को देख बड़े प्रसन्न हुए और उन्हें हार्दिक आशीर्वाद दिया।

स्वामी विवेकानन्दजी ने उनमें निश्चय की दढ़ता और आत्यन्तिक गुरुभक्ति की भावना को परखकर ही उन्हें 'निश्चयानन्द' का नाम प्रदान किया था। एक बार उन्होंने निश्चयानन्द से कहा था, "साधु होनें पर भी दूसरों पर भार बनना उचित नहीं है। किसी व्यक्ति का अन्न ग्रहण करने पर उसका प्रतिदान करना पड़ता है। साधुसमाज दूसरों का अन्न खा-खाकर जड़ हो गया है। दूसरों पर निर्भर होने से व्यक्ति की उन्नति नहीं होती, घोर अवनति ही होती है। तुम ऐसा कभी मत करना। यदि तुम कोई काम न कर सको, तो भीख माँगकर पैसे इकट्ठे कर एक मिट्टी का घड़ा ले लेना और रास्ते के किनारे बैठकर प्यासे राहगीरों को पानी पिलाना। प्यासे को जल पिलाना भी महान् कार्य है।" स्वामीजी का यह

उपदेश निश्चयानन्द के हृदय पर अमिट रूप से अंकित हो गया और वे जीवन भर उनके आदेश का पालन करते रहे।

स्वामीजी की सेवा में सतत रूप से नियुक्त रहने के कारण निश्चयानन्द ने उन्हें अत्यन्त समीप से देखा था और वे स्वामीजी की महानता से अभिभूत हुए थे। एक बार स्वामीजी के पास जापान सरकार के कुछ प्रतिनिधि आये। वे उन्हें जापान ले जाना चाहते थे। उन्होंने स्वामीजी से कहा कि यदि वे उनकी सरकार की सम्मति के अनुसार कार्य करें, तो जापान सरकार न केवल उनकी यात्रा का समस्त व्यय स्वयं वहन करेगी, प्रत्युत उन्हें भारत में कार्य करने के लिए प्रचुर आर्थिक सहायता भी देगी। पर स्वामीजी ने उनके प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। कारण पूछने पर उन्होंने निश्चयानन्द से कहा, "देख निश्चय ! क्या विवेकानन्द कोई बाजार की चीज है, जिसे पैसे देकर खरीदा जा सकता है ?"

निश्चयानन्द छत्रपति शिवाजी पर बड़ी श्रद्धा रखते थे तथा लोकमान्य तिलक के लिए भी उनके मन में सम्मान का भाव था। सन् १९०१ में जब काँग्रेस का अधिवेशन कलकत्ता में हुआ, तब तिलक वहाँ आये थे और स्वामीजी से भी उन्होंने भेंट की थी। उस समय निश्चयानन्द मठ में ही थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा था, "तिलक पहले केवल मराठा-ब्राह्मणों की उन्नति में ही व्यस्त थे। स्वामीजी नें उन्हें समझा दिया था कि राष्ट्र को उठाने

के लिए राष्ट्र के एक अंश मात्र को उठाना पर्याप्त नहीं है। गरीब, दुखी तथा निम्नस्तरीय लोगों के उद्धार के विना राष्ट्र का उत्थान नहीं हो सकता। स्वामीजी के सम्पर्क में आने से ही तिलक के मनोभावों में परिवर्तन हुआ और वे निम्न जातियों के सुधार-कार्य में प्रवृत्त हुए।"

स्वामीजी की महासमाधि के उपरान्त निश्चयानन्द मठ में नहीं रह सके। वे परिव्राजक के रूप में तीर्थों का भ्रमण करते हुए विचरण करने लगे। इसी परिव्रजन-काल में उनकी भेंट कनखल में अपने गुरुभ्राता कल्याणानन्द से हुई, जो स्वामीजी के आदेश को शिरोधार्य कर पीड़ित साधुओं की चिकित्सा के प्रयास में लगे हुए थे और वहाँ सेवाश्रम की स्थापना की थी। उन्होंने निश्चयानन्द को इस कार्य में सहयोग देने के लिए कहा और निश्चयानन्द तत्काल सेवा-कार्य के लिए सहमत हो गये। पीड़ितों और रुग्णों की चिकित्सा एवं परिचर्या का कार्य हरिद्वार के दशनामी सम्प्रदाय के साधुओं को अत्यन्त घृणित लगता था। वे स्वयं को वेदान्ती कहते थे। उनका मत था कि जीव तो अपने प्रारब्ध से दुःख भोगता है। जगत् तो त्रिकाल में नहीं है, न हुआ है, न होगा। दूसरे ही क्षण वे वेदान्त को भूलकर गृहस्थों से कहने लगते थे, "रोटी खिलाना है तो खिलाओ, नहीं तो सिर तोड़ देंगे।" ऐसे संकुचित-चित्त साधुओं के परिहास और व्यंग्य-वाणी को सहते हुए निश्चयानन्द रुग्णों और पीड़ितों की परिचर्या में लगे रहे।

निश्चयानन्द दिन-रात सेवा करते हुए भी जप-ध्यान के लिए समय निकाल लिया करते थे और कार्य समाप्त होते ही ध्यान में तन्मय हो जाते थे। एक वार 'श्रीराम-कृष्ण वचनामृत' के रचयिता महेन्द्रनाथ गुप्त सेवाश्रम में निवास कर रहे थे। वे निश्चयानन्द की कर्मठता को देख चकित थे, पर वे उनकी साधना से परिचित नहीं थे। उन्होंने निश्चयानन्द को समझाया, "देखो निश्चय! ठाकुर कहते थे कि ईश्वर-लाभ ही साधु-जीवन का उद्देश्य है। कामकाज ही साधु-जीवन का एकमात्र लक्ष्य नहीं है।" पर निश्चयानन्द ने कोई उत्तर नहीं दिया। बार बार कहने पर उन्होंने महेन्द्रनाथ से कहा, "देखिए, मैं स्वामीजी का गुलाम हूँ। मैं साधन-भजन कुछ भी नहीं जानता। उनका कार्य करना ही मेरे जीवन का व्रत है।" महेन्द्रनाथ निश्चयानन्द की महान् गुरु-भक्ति को देख मुग्ध हो उठे और कह उठे, "तुम्हें साधन-भजन कुछ भी नहीं करना होगा। गुरु-कृपा से ही तुम्हारा सब-कुछ हो जायगा!"

वस्तुतः स्वामीजी द्वारा प्रवर्तित 'दरिद्र देवो भव' निश्चयानन्द के जीवन का भरतवाक्य बन गया था। उनका स्वयं का जीवन अत्यन्त कृच्छतापूर्ण था। दरी और कम्बल ही उनकी शय्या थी तथा उन्होंने खटमलों और मच्छड़ों के विनाश का कभी कोई उपाय नहीं किया। रात में खटमल और मच्छड़ निर्द्वन्द्व रूप से उनका खून पिया करते थे। अनवरत परिश्रम से उनका शरीर टूटता जा रहा था और उन्हें गैस्ट्रिक अलसर की व्याधि भी

हो गयी थी, पर वे अन्तिम क्षणों तक आत्मनिर्भर रहे और दूसरों की सेवा कभी भी स्वीकार नहीं की। सन् १९३८ के अक्तूबर मास में वे अत्यन्त जीर्ण हो चले। उठने-बैठने में भी उन्हें कष्ट होने लगा। २२ अक्तूबर को दोपहर वे अपनी शय्या पर लेटे लेटे स्वामीजी के चित्र को वक्ष पर रख ध्यानमग्न हो गये। यह उनकी महासमाधि थी। अपने गुरुभ्राता कल्याणानन्द को लोक-सेवा के लिए छोड़कर निश्चयानन्द श्रीगुरु के पादपद्मों में शाश्वत रूप से विश्राम करने के लिए पहुँच गये।

स्वामी निश्चयानन्द का जीवन त्याग, तितिक्षा और सेवा का जीवन था। यद्यपि प्राचीन मतावलम्बी साधुओं के मध्य सेवा-कार्य कोई उच्च आदर्श नहीं था, परन्तु निश्चयानन्द ने अपने जीवन के माध्यम से अपने गुरुदेव द्वारा प्रवर्तित 'शिव-ज्ञान से जीव-सेवा' रूप मानव-धर्म को प्रतिष्ठित किया था। तभी तो स्वामी कल्याणानन्द ने उनके सम्बन्ध में कहा था, "सुदीर्घ तीस वर्षों तक विना एक दिन का विश्राम लिये जीवन भर सेवा करना संसार के इतिहास में दुर्लभ है। गीता में निष्काम कर्म के सम्बन्ध में कहा गया है—मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोस्त्वकर्मणि। निश्चयानन्द का अभूतपूर्व सेवामय जीवन इसका सटीक उदाहरण है।"

राम सहज कृपालु कोमल

पं० रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम में प्रदत्त प्रवचन का एक अंश)

भगवान् राम जनकपुर की ओर जा रहे हैं। जनकपुर में कौन हैं ? गोस्वामीजी कहते हैं—वहाँ हैं आद्याशक्ति, भगवती श्रीजानकीजी, जो भगवान् से अभिन्न हैं तथा परम पवित्रता और दिव्यता की प्रतिमूर्ति हैं। पर गोस्वामीजी ने बीच में यह किसे लाकर खड़ा कर दिया ? कहते हैं प्रभु से--जब तक आप इसका स्पर्श न कर लेंगे, आगे नहीं जा पाएँगे। पहले अहल्या का आपको स्पर्श करना होगा, तभी आप जानकीजी की ओर जा सकेंगे। जानकीजी वे हैं, जिनके बारे में कहा गया है—

सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं। ३/५(ख)

--सीता! तुम्हारा नाम ही लेकर स्त्रियाँ पातिव्रत धर्म का पालन करेंगी। और अहल्या वह है, जो पातिव्रत धर्म से च्युत है, पत्थर बनकर पड़ी हुई है। गोस्वामीजी दार्शनिक विवेचन करते हैं—अहल्या है व्यक्ति की बुद्धि। भक्त कहता है—प्रभो, आपने अहल्या का उद्धार किया है, इसीलिए मैं आपको पुकार रहा हूँ, क्योंकि—

सहस सिला तें अति जड़ मति भई है। (विनयपत्रिका, १८१)

—मेरी बुद्धि भी अहल्या के समान जड़ हो गयी है। अतः आप आकर उसका उद्धार कीजिए। यह एक सांकेतिक भाषा है। अहल्या गौतम की पत्नी है। अहल्या है बुद्धि और गौतम है विवेक। बुद्धि को चाहिए कि वह

विवेक की सेवा में रहे। लेकिन जब इन्द्र गौतम के वेश में आता है, तो अहल्या भ्रमित हो उसे स्वीकार कर लेती है। इन्द्र है स्वर्ग का राजा, विषय-भोग का मूर्तिमान रूप। बुद्धि जब तक विवेक की सेवा करती है, तभी तक चेतन रहती है; किन्तु जब वह भोग की सेवा में प्रवृत्त हो जाती है और उसे स्वीकार कर तर्कों के द्वारा उसकी श्रेष्ठता का समर्थन करने लगती है, तो उसमें अहल्या की भाँति जड़ता आ जाती है। तब वह कुमति से युक्त हो जड़ हो जाती है।

अच्छा, और जानकीजी कौन हैं ?

जनकसुता जग जननि जानकी।
अतिसय प्रिय करुनानिधान की ॥
ताके जुग पद कमल मनावउँ।
जासु कृपाँ निरमल मति पावउँ ॥१/१७/७-८

—जानकीजी हैं निर्मल मति। अहल्या है कुमति। गोस्वामीजी ने कहा—प्रभो, पहले कुमति का उद्धार होगा, तभी तो निर्मल मति मिलेगी। अतः आप पहले अहल्या को शुद्ध कीजिए। भगवान् अहल्या की ओर चले। वह तो पत्थर की हो गयी थी। अगर पत्थर की न होती, तो स्वयं चलकर भगवान् के पास आती। पर वह चलने में असमर्थ थी। अतः भगवान् स्वयं चलकर उसके पास आये और उन्हें स्मरण हो आया कि अगर इसके पास नौ भक्तियों में से एक भी रहे, तो काम बन जाय। वे नौ भक्तियाँ कौन सी हैं ?

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। ३/३४/८

—पहली भक्ति है सन्तों का संग। भगवान् ने सोचा—यह अहल्या सत्संग भला क्या कर पायगी, चलकर हमीं इसके बदले सत्संग कर लें। इसलिए वे स्वयं ऋषि को साथ लेकर आये। इस तरह स्वयं सत्संग कर लिया। दूसरी भक्ति है—

दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥ ३/३४/८

—प्रभु के कथा-प्रसंग में अनुराग। अब अहल्या के पास कान तो हैं नहीं। कथा कैसे सुनेगी? तो भगवान् ने एक काम किया। क्या?—

पूछा मुनिहि सिला प्रभु देखी।
सकल कथा मुनि कहा बिसेषी॥ १/२०९/१२

—भगवान् ने कहा कि अगर तुम मेरी कथा नहीं सुन पाओगी, तो कोई बात नहीं। चलो, मैं ही तुम्हारी कथा सुन लेता हूँ। मेरी कथा सुनने से यदि लोग पवित्र होते हैं, तो जिसकी कथा मैं सुनूँगा, वह तो पवित्र होगा ही। भगवान् तुरन्त उसकी कथा सुन लेते हैं। फिर?—

गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।३/३५

—तीसरी भक्ति है गुरु-चरणों की सेवा। अहल्या वह भी नहीं कर सकती। अतः भगवान् को गुरुजी से आज्ञा प्राप्त होती है—

गौतम नारि श्राप बस उपल देह धरि धीर।
चरन कमल रज चाहति कृपा करहु रघुबीर॥१/२१०

—हे रघुवीर, गौतम की स्त्री अहल्या शापवश

पत्थर की देह धारण किये है। वह तुम्हारे चरणकमलों की धूलि चाहती है। इस पर कृपा करो।

भगवान् के मंगलमय चरणों के स्पर्श से अहल्या की जड़ता दूर होती है और उसे चेतना प्राप्त होती है। बुद्धि में जब विषय-भोग के कारण जड़ता आ जाय, तो भगवान् के मंगलमय चरणों का आश्रय लेना चाहिए। इससे बुद्धि जड़ से चेतन होकर धन्य हो जाती है, विवेक के आश्रय में चली जाती है। तात्पर्य यह है कि भगवान् अहल्या को तार देते हैं। इस तरह भगवान् स्वयं ही अहल्या के बदले तीन प्रकार की भक्ति का निर्वाह करते हैं, और जब अहल्या चेतना को प्राप्त हो जाती है, तो उससे कहते हैं कि अब बाकी की भक्ति तुम कर लो।

चौथी भक्ति क्या है ?—

चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान। ३/३५

—भगवान् के गुणों का गान। अतः जब अहल्या जड़ से चेतन हो गयी, तो भगवान् के गुणों का गान करने लगी—

अति निर्मल बानी अस्तुति ठानी।
ग्यान गम्य जय रघुराई १/२१०/६

इस प्रकार अहल्या को सर्वथा पवित्र बनाकर भगवान् जनकपुर की ओर आते हैं। और इधर जानकीजी क्या करती हैं ? वे पहले वाटिका में आती हैं, सरोवर में स्नान करती हैं और तब पार्वतीजी का पूजन करती हैं।

वाटिका क्या है ?—

संतसभा चहुँ दिसि अवँराई। १/३६/१२

--अर्थात्, सन्तों की सभा ही वाटिका है । और सरोवर का जल क्या है ?--

बाँधे घाट मनोहर चारी ।
संत हृदय जस निर्मल वारी ।। ३/३८/७

--संत का हृदय ही वह निर्मल जल है, जिसमें अवगाहन करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है । तात्पर्य यह है कि पहले सत्संग करो, फिर सन्त के हृदय में प्रवेश करो और उसके बाद श्रद्धास्वरूपिणी पार्वतीजी की आराधना करो । उसके पश्चात् भगवान् को खोजने के लिए प्रवृत्त होओ । पर भगवान् का दर्शन पहले किसे हुआ ? गोस्वामीजी लिखते हैं--

एक सखी सिय संगु विहाई ।
गई रही देखन फुलवाई ।। १/२२७/७

--जो सखियाँ पूजन कर रही थीं, भगवान् राम उनको पहले नहीं मिलते । पर जो फुलवारी घूमने चली गयी थी, उसे भगवान् का दर्शन पहले होता है । मानो भगवान् कह देते हैं कि पूजा करनेवाले यह घमण्ड न करें कि भगवान् पहले हमें ही मिलेंगे । प्रभु तो बड़े कौतुकी हैं न ! यहाँ पर वे पूजा करनेवालों को मिले तो सही, पर उसकी कृपा से, जो पूजा में सम्मिलित नहीं थी । गोस्वामीजी की धारणा बड़ी रसमयी है । वे कहते हैं--जिनके पास विशेषता है, साधना है, वे जब अपनी साधना की चरम सीमा में पहुँच जायँगे, जब साधनशून्य हो जायँगे, तव उन्हें भगवान् मिलेंगे; पर जो अपने आप

में शून्यता ले आता है, उसके लिए किसी कर्म की, किसी साधना की आवश्यकता नहीं रह जाती। संकेत आता है कि जब सखी भगवान् का दर्शन करके लौटती है, तो उसकी आँखों से आँसू गिर रहे हैं।

तासु दसा देखी सखिन्ह पुलक गात जलु नैन।
कहु कारनु निज हरष कर पूछहिं सब मृदु बैन॥१/२२८

सखियाँ उससे पूछती हैं--"तुम्हारी आँखों में आँसू कैसे?" वह कहती है--"अयोध्या के राजकुमार आये हुए हैं। मैं फिर से उनके दर्शन करने जा रही हूँ।"

--"तो क्या दर्शन करने के लिए आँखों में आँसुओं की आवश्यकता होती है?"

—"हाँ।"

—"क्यों?"

सखी ने उत्तर दिया--"यदि कोई अमृत लेकर तुम्हारे निकट आये और तुम्हारे पास जल से भरी कलसी हो, तो तुम क्या करोगी? निश्चय ही जल को फेंककर उसमें अमृत लोगी। तो वैसे ही ये नेत्र हैं कलसी और भगवान् का सौन्दर्य है अमृत। इन नेत्रों की कलसी में खारा जल भरा हुआ है—

साँवर रूप-सुधा भरिबे कहँ
नयन-कमल कल कलस रितौ, री। (गीतावली,७७/२)

—पहले उसे बहाना पड़ेगा। जब कलसी खारे जल से खाली हो जायगी, तभी उसमें अमृत भरा जा सकेगा। यदि यह भरी रहे, तो इसमें अमृत कैसे आयगा?"

सखी दर्शन करने गयी और जब लौटकर फिर से आयी, तब भी उसकी आँखों से आँसू बह रहे थे। सखियों ने उसे फिर पकड़ा और कहा—

तासु दसा देखी सखिन्ह पुलक गात जलु नैन।

कहु कारनु निज हरष कर,पूछहिं सब मृदु बैन ॥१/२२८

—"जाते समय तुमने कहा था कि बिना नेत्र-कलसी के खाली हुए उसमें अमृत नहीं भरेगा, पर अब तुम्हारे आँसू बहने का क्या कारण है ?"

उसने उत्तर देते हुए कहा—"सखियो, अगर बर्तन छोटा हो और अमृत ज्यादा हो, तो अमृत बाहर छलकेगा कि नहीं ? दर्शन में इतना दिव्य रस मिला है, इतना आनन्द मिला है कि वह आँखों से बाहर छलक रहा है !"

यही सौन्दर्यामृत की रसानुभूति है। यह अभाव के रस की अनुभूति है। और जहाँ अभाव के रस की अनुभूति है, वहाँ भगवान् की प्राप्ति पहले होती है। गोस्वामीजी ने आदि से अन्त तक यही दिखलाया है। अभाव का अर्थ है निस्साधना। यदि कोई यह समझे कि वह अपनी साधना के बल पर भगवान् को पा लेगा, तो वह भूल करता है। साधना के गर्व के द्वारा उनको नहीं पाया जा सकता। भरतजी में साधना की पराकाष्ठा है और वही पराकाष्ठा हनुमानजी में भी है। पर इस पराकाष्ठा में साधना का गर्व नहीं, चरम दैन्य की अनुभूति है। और इसीलिए वे भगवान् को प्राप्त करते हैं। गोस्वामीजी की यही दृष्टि है और यह दृष्टि जीवन के लिए बड़ी आवश्यक है।

दैन्य का, निस्साधना का मनुष्य के जीवन में बड़ा महत्त्व है। पर यह निस्साधना भी बड़ी साधना के बाद प्राप्त होती है। यदि किसी के जीवन में यह पहले आ जाय, तो उसकी बात अलग है। पर अधिकांशतः कठोर साधना के बाद ही नैष्कर्म्य की उपलब्धि होती है। कठिन परिश्रम के बाद जब मनुष्य पूरी तरह थक जाता है, चूर चूर हो जाता है, उसकी शक्ति की सीमा समाप्त हो जाती है, तब भगवान् मिलते हैं। बुद्धि के द्वारा आप जितना सोच सकते हैं, सोचिए। कर्म के द्वारा जो कुछ कर सकते हैं, कीजिए। और सब कुछ करने के पश्चात् जब आप उस सीमा में पहुँच जायँ, जहाँ आपको यह प्रतीत होने लगे कि हमारे कर्तृत्व की क्षमता समाप्त हो गयी, तब भगवान् की कृपा की सीमा प्रारम्भ होती है।

रामचरितमानस में हम यही संकेत पाते हैं, जब बन्दर जानकीजी की खोज में निकलते हैं। ये बन्दर कौन हैं? 'विनय-पत्रिका' में गोस्वामीजी लिखते हैं—

कैवल्य-साधन अखिल भालु मर्कट
विकट ग्यान-सुग्रीव कृत जलधि-सेतू। ५८।८

—ये बन्दर हैं नाना प्रकार के मोक्ष के साधन। ये जानकीजी की खोज में जा रहे हैं। जानकीजी हैं साक्षात् पराभक्ति। भक्ति की खोज में ये सारे साधन चलते हैं। सुग्रीव ने इन बन्दरों से कह दिया है कि पन्द्रह दिनों के भीतर जानकीजी का पता लगाकर लौटो। उसके बाद यदि बिना पता लगाये लौटे, तो प्राणदण्ड दिया जायगा। इस

घोषणा से मानो कायरों की परीक्षा हो जाती है। जब कायर को पता चले कि पन्द्रह दिन के भीतर न आने पर प्राणों का खतरा है, तो वह योजना बनाने लगता है कि इतनी दूर चलें, ताकि पन्द्रह दिनों के भीतर लौट आएँ। पता मिल जाय तो ठीक और न मिले तो कोई बात नहीं। कम से कम प्राण तो बचा लेंगे। इसी प्रकार, कुछ लोग भक्ति पाना तो चाहते हैं, पर उनकी योजना यह रहती है कि अमुक समय के भीतर यदि भक्ति मिल जाय तो ठीक है, नहीं तो कोई बात नहीं। वे मार्ग से सहर्ष लौट आयँगे। बन्दरों में जो दक्षिण दिशा की ओर चले, वे सर्वश्रेष्ठ हैं।

सुनहु नील अंगद हनुमाना।
जामवंत मतिधीर सुजाना॥
सकल सुभट मिलि दच्छिन जाहू।
सीता सुधि पूँछेहु सब काहू॥ ४/२२/१-२

—ये श्रेष्ठ बन्दर दक्षिण की ओर जाते हैं। दक्षिण है काल की दिशा। और काल की दिशा में चलनेवाले किस तरह खोज करते हैं? गोस्वामीजी लिखते हैं—

चले सकल बन खोजत सरिता सर गिरि खोह।
राम काज लयलीन मन बिसरा तन कर छोह॥ ४/२३

—मन को श्रीभगवान् में लवलीन कर, शरीर की सुध-बुध खोकर खोजने लगे। खोजते खोजते तन्मय हो गये। अटूट प्रयास किया। पर जानकीजी मिलीं नहीं। एक महीना बीत गया। अब तो जानकीजी की खबर लिये बिना वापस जाने से मृत्युदण्ड मिलेगा। वे बड़े निराश

हुए, व्याकुल हो उठे। गोस्वामीजी ने लिखा——

मिलइ न जल घन गहन भुलाने। ४/२३/३

——वे गहन जंगल में मार्ग भूल गये। यह कौन सा जंगल है ? हम और आप सबके सामने यह जंगल आता है। यह है संशय का जंगल। गोस्वामीजी लिखते हैं——

संसय बिपिन अनल सुर रंजन। ६/११४/२

——भगवान् राम संशय-विपिन को भस्म करनेवाली अग्नि हैं। तो, जब ये साधन-रूप बन्दर भक्तिदेवी की खोज करते करते संशय के गहरे जंगल में भटक जाते हैं, उस समय उनकी निष्ठा और लगन को देखकर भगवान् की कृपा होती है। उनकी सहज कृपा से बन्दरों को स्वयंप्रभा का सत्संग मिलता है, जिससे उन्हें भक्तिरूपिणी सीतादेवी का अनुसन्धान प्राप्त होता है।

इस प्रकार, रामचरितमानस की यह मान्यता है कि जब तक जीव में साधना के कर्तृत्व का अहंकार है, तब तक भगवान् की कृपा नहीं होती। निस्साधना एवं दैन्य का भाव ही उसे भगवत्कृपा का अधिकारी बनाता है। अहंकार और दैन्य दोनों एक साथ नहीं रह सकते। बुराई और अच्छाई का सह-अस्तित्व नहीं चल सकता। बन्दर साधनरहित थे, पर दीन थे और इसी दीनता के कारण वे भक्तिदेवी का कृपाकटाक्ष पा सके। रावण साधनसम्पन्न था, पर अहंकारी था और इसी अहंकार के कारण वह भक्तिदेवी को बलपूर्वक हरकर भी उनकी कृपा से वस्तुतः दूर ही था।

वर्णन आता है कि जब रावण अपना वैभव और ऐश्वर्य दर्शाने के लिए अपनी रानियों को लेकर जानकीजी के पास आया और उनके सामने प्रस्ताव रखा कि यह सारा वैभव तुम्हारा है, केवल एक बार मेरी ओर देखो तो सही——

एक बार बिलोकु मम ओरा। ५/८/५

तो जानकीजी ने उत्तर दिया——

सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा।
कबहुँ कि नलिनी करइ बिकासा॥ ५/८/७

——रावण! क्या जुगनू के प्रकाश में कहीं कमलिनी खिल सकती है?

रावण को क्रोध आ गया। क्यों?

आपुहि सुनि खद्योत सम रामहि भानु समान। ५/९

राम सूर्य और मैं जुगनू? मैं इतना विशाल ऐश्वर्यवाला, जुगनू? और दो भुजाओं और एक सिरवाला राजकुमार, जो जंगल में इधर उधर भटक रहा है, वह सूर्य? इतनी बड़ी धृष्टता!

पर सूर्य और जुगनू का अभिप्राय केवल यह नहीं कि सूर्य में प्रकाश अधिक है और जुगनू में कम। रावण इस दृष्टि से जुगनू नहीं है। रावण में ऐश्वर्य का प्रकाश बहुत है। जानकीजी ने रावण को जो जुगनू कहा, उसका प्रतीकात्मक अर्थ है। प्रकाश जुगनू में भी है और सूर्य में भी। और इस दृष्टि से सूर्य, चन्द्र, तारे और जुगनू सब एक ही जाति के हैं। पर यहाँ व्यंग्य क्या है? जुगनू प्रकाश लिये हुए अवश्य है, पर वह प्रकाश का प्रेमी नहीं——

वह तो अन्धकार का प्रेमी है इसीलिए भगवान् राम लक्ष्मण से कहते हैं--

निसि तम घन खद्योत विराजा।
जनु दंभिन्ह कर मिला समाजा॥ ४/१४/६

—लक्ष्मण ! देखो, रात के घने अन्धकार में जुगनू ऐसी शोभा पा रहे हैं, मानो दम्भियों का समाज आ जुटा हो।

भगवान् राम ने तीन शब्द कहे—निशि, तम और घन। निशि का अर्थ है रात्रि। उसमें 'तम' शब्द क्यों जोड़ा ? 'तम' का अर्थ है अन्धकार। निशि में अन्धकार तो होता ही है, पर यदि चन्द्रमा निकला हुआ हो, तो अन्धकार पूरा नहीं होता। अतः निशि के पश्चात् तम कहने का अभिप्राय ऐसी रात्रि से है, जिसमें चन्द्रमा का प्रकाश न हो; अर्थात् अमावस्या की रात्रि। पर भगवान् राम को इससे भी सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने निशि और तम में 'घन' और जोड़ दिया। क्यों ? उनका तात्पर्य यह था कि ठीक है, रात्रि भले ही अमावस्या की है और चाँद नहीं है, पर तारे तो चमक सकते हैं। पर यदि बादल छा जायें, तो तारे भी विलुप्त हो जायँगे। कहने का अभिप्राय यह कि निशि है-- माने सूर्य नहीं; तम है, यानी चन्द्र नहीं और घन है अर्थात् तारे नहीं। फिर चमक कौन रहा है ?—

निसि तम घन खद्योत बिराजा।

—केवल जुगनू चमक रहा है। कैसे ?

जनु दंभिन्ह कर मिला समाजा॥

—मानो दम्भ का मूर्तिमान स्वरूप हो। जुगनू में प्रकाश तो है, पर वह दम्भ से प्रेम करता है। दम्भी का स्वभाव कैसा होता है? उसके कर्म अच्छे दिखायी दे सकते हैं, पर उन कर्मों का अभिप्राय कुछ और होता है। जुगनू से अगर कोई पूछे कि तुम देना क्या चाहते हो? प्रकाश? नहीं। क्योंकि जुगनू का प्रकाश दूसरों को देने के लिए नहीं है। सूर्य आपको प्रकाश इसलिए देता है कि आप उसमें अपना काम कर सकें। यही नहीं, सूर्य अपना प्रकाश और भी तीव्र कर देता है, ताकि उसकी ओर कोई देख न सके। प्रकाश धीमा होने से लोग अपना काम छोड़ उसकी ओर ही देखते रह जाएँगे। अतः सूर्य का अभिप्राय यह है कि हमारे प्रकाश में अपना कार्य करो, हमारी ओर देखने की आवश्यकता नहीं। सच्चा प्रकाशक वही है, जो दूसरों को कार्य करने की प्रेरणा दे, और वह नहीं, जो दूसरों को अपनी ओर आकृष्ट करता रहे। पर जुगनू अपनी पूँछ में प्रकाश लिये भगवान् से यही मनाता रहता है कि सूर्य न निकले, चन्द्रमा न निकले और तारे भी न निकलें, ताकि अँधेरा छाया रहे और हम चमकते रहें! यदि प्रकाश हो जायगा, तो फिर हमें कौन पूछेगा? जुगनू अपने को चमकाने के लिए चमकता है। उसका प्रकाश केवल स्वयं को प्रकाशित करने के लिए है, संसार को उजेला देने के लिए नहीं। वह अन्धकार से समझौता किये हुए है कि हम तुम्हें नहीं मिटाएँगे। जुगनू इस बात

को जानता है कि मैं चमक जरूर रहा हूँ, पर मुझे चमकानेवाला तो अँधेरा ही है। अन्धकार भी प्रकाशक हो सकता है, इसे जुगनू जानता है और इस बात को जानने का परिणाम यह है कि जुगनू अन्धकार से प्रेम करता है। श्रीजानकीजी के कहने का तात्पर्य यही था कि रावण, तुम्हारा गुण, तुम्हारा ऐश्वर्य, तुम्हारा जो कुछ भी है, वह स्वयं को चमकाने मात्र के लिए है, किन्तु हमारे प्रभु सबके प्रकाशक हैं, उनका उद्देश्य ही लोक-कल्याण का है, सबको प्रकाशित करने का है।

बुद्धिमान् वह नहीं, जिसके पास पहुँचकर दूसरों को यह लगने लगे कि हम मूर्ख हैं; बुद्धिमान् वह है, जिसके निकट मूर्ख भी यह महसूस करने लगे कि मैं बुद्धिमान् हो गया। सुन्दर वह नहीं, जिसके सामने दूसरे फीके पड़ जायँ। सच्चा सुन्दर तो वह है, जिसके पास पहुँचकर कुरूप भी सुन्दर लगने लगे। देखिए न। बन्दर थे कुरूप और भगवान् राम थे बड़े सुन्दर। पर भगवान् राम के साथ रहकर वे कुरूप बानर भी सुन्दर हो गये। तुलसीदासजी लिखते हैं—

कपिपति रीछ निसाचर राजा।
अंगदादि जे कीस समाजा॥
बंदउँ सबके चरन सुहाए। १/१७/१-२

—मैं बन्दरों के सुन्दर चरणों की वन्दना करता हूँ। बन्दरों के चरण सुन्दर हों, ऐसा तो कभी देखने में नहीं आया। पर इसका तात्पर्य यह है कि जब वे लोग भगवान्

के पास चले गये, तो उनके चरण भी अच्छे कार्यों में लग गये, भक्ति की खोज में लग गये, भगवान् की सेवा में रत हो गये। इस प्रकार बन्दर भी सुन्दर हो गये। वस्तुतः सुन्दर तो वह है, जो—

सुंदरता कहुँ सुंदर करई। १/२२९/७

—जो दूसरे को सौन्दर्य का दान दे। विद्वान् वह है, जो दूसरे को विद्वान् बना दे। दानी वह नहीं, जो स्वयं दान करे और दूसरे को भिखारी बनाये रखे। सच्चा दानी तो वह है, जो भगवान् राम-जैसा दान करे।

भगवान् राम गंगा पार होने गये। केवट ने उन्हें पार उतार दिया और चरणों में प्रणाम निवेदित किया। प्रभु संकोच में पड़ गये—

प्रभुहि सकुच एहि नहिं कछु दीन्हा। २/१०१/२

—मैंने इसे कुछ दिया नहीं। श्रीकिशोरी जी ने संकोच ताड़ लिया। तुरन्त अपनी मुद्रिका निकाली और प्रभु के हाथों में दे दी। प्रभु जब उसे केवट को देने लगे, तो केवट ने प्रभु के चरणों को पकड़ लिया और कहा—

नाथ आजु मैं काह न पावा।
मिटे दोष दुख दारिद दावा।। २/१०१/५

—"प्रभो, आज मैंने क्या नहीं पाया? मेरे दोष, दुख, दारिद्र्य सभी कुछ मिट गये।" भगवान् ने कहा, "भई, मैंने तो कुछ दिया ही नहीं और तुम कहते हो कि सब कुछ पा गये।"

केवट नें कहा, "महाराज, बोलकर देनेवाले तो बहुत मिलते हैं, पर आज आपने मुझे जैसा दिया, वैसा

किसी ने नहीं दिया।"

भगवान् ने पूछा, "कैसे ?"

केवट बोला, "प्रभो, यदि मेरे समान एक दरिद्र भिखारी यह सुने कि चक्रवर्ती सम्राट के पुत्र आ रहे हैं, जो कि साक्षात् भगवान् हैं, तो उसके मन में यह अभिलाषा जागना स्वाभाविक है कि आज भगवान् से चाहे जो इच्छा हो प्राप्त कर लेंगे और अपनी दरिद्रता दूर कर लेंगे। मुझ केवट में हो सकता है ऐसी इच्छा रही हो।"

भगवान् ने कहा, "तुममें ऐसी इच्छा थी, यह मैं कैसे मान लूँ ? मैं तो तुम्हें अँगूठी दे रहा हूँ, पर तुम ले नहीं रहे हो।"

केवट ने कहा, "महाराज, इच्छा थी तो, पर अब मिट गयी।"

—"कैसे ?"

"जब आप गंगातट पर आये, तो मैं आशा कर रहा था कि आप कहेंगे, 'केवट, चाहे जो इच्छा हो माँग लो।' मैंने सुना भी था कि आप सबको देते रहते हैं। पर जब मैंने सबसे पहले यह देखा कि आपने—

मागी नाव.....। २/९९/३

—कहा कि 'केवट, मुझे नाव चाहिए, शीघ्र ले आओ,' तो उसी क्षण मेरी सारी दरिद्रता मिट गयी। मैंने सोचा —अब तक तो मैं अपने को दरिद्र मानता था, पर जब आज सारे संसार का दाता स्वयं हो मुझसे माँग रहा है, तो

मुझसे बढ़कर महान् और कौन हो सकता है ? प्रभो ! और लोग तो देकर मन की दीनता बढ़ाते हैं, आपने तो माँगकर मेरे मन की दीनता हटा दी। मैं तो समझता था कि मेरे पास कुछ नहीं है, पर आपने बता दिया कि तुम्हारे पास ऐसी वस्तु है जिसकी आवश्यकता मुझे है। और बस, मेरी दरिद्रता जाती रही। साथ ही मेरा दुख भी दूर हो गया।"

—"कैसे ?"

—"जब आप गंगा के किनारे आये, तो आप बड़े उदास थे, क्योंकि आप सुमन्त्रजी को बिदा करके आये थे। और सुमन्त्रजी की अवस्था तो ऐसी थी कि—

करि विनती पायन्ह परेउ दीन्ह बाल जिमि रोई। २/९४

—वे बालक की नाईं रो रहे थे। जब आप चलने लगे, तो घोड़े भी हिनहिनाकर अपना दुख प्रकट कर रहे थे। अतः आपका दुखित होना स्वाभाविक था। ऐसी अवस्था में मैंने आपसे आड़ी-टेढ़ी बातें कीं—

सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे।
विहसे करुनाऐन चितइ जानकी लखन तन ॥ २/१००

—जिन्हें सुनकर आप इतना हँसे, जितना शायद पहले कभी न हँसे हों। अतः प्रभो ! जब मैंने आपको आनन्दित देखा, तो मुझे लगा कि मैं भी प्रभु को सुख दे सकता हूँ। बस, मेरा सारा दुख मिट गया। अब केवल दोष बाकी रह गया था, उसे भी आपने मुझे गंगा प्रदान कर दूर कर दिया।"

—"कैसी गंगा ?"

—"महाराज ! भगीरथजी को गंगा पाने के लिए तीन पीढ़ी तपस्या करनी पड़ी थी, तब कहीं गंगा ब्रह्माजी की कमण्डलु में आयी । पर इस गंगा से मेरे पुरखों का उद्धार नहीं हुआ, जबकि दूसरे सब दुष्ट और पापी इससे मुक्ति पा गये । उसका कारण यह था, प्रभो, कि——

हम जड़ जीव जीव गण घाती ।
कुटिल कुचाली कुमति कुजाती ।।
पाप करत निसि बासर जाहीं ।
नहिं पट कटि नहिं पेट अघाहीं ।। २/२५०/४-५

—हम लोग जड़ जीव हैं, जीवों की हिंसा में लगे हुए हैं; कुटिल, कुचाली, कुबुद्धि और नीच जाति के हैं । पाप करके ही हमारा दिन-रात व्यतीत होता है । हम-जैसे पापी भला कैसे मुक्त हों ? पर आपने उपाय कर दिया । आपने एक नयी गंगा ला दी । आपने गंगा पार जाने की इच्छा प्रकट की, तो मैंने पहले आपके चरणों को धोने की आज्ञा माँगी । आपने अनुमति दी । तब——

केवट राम रजायसु पावा ।
पानि कठवता भरि लेइ आवा ।। २/१००/६

—मैं कठौते में जल ले आया । और यही थी वह नयी गंगा । वह गंगा आयी थी ब्रह्माजी की कमण्डलु में और यह गंगा आयी कठौते में । यह थी कृपा की गंगा ।"

इस प्रकार केवट नें इस गंगा के जल से भगवान् के चरणों को धोया और कहा, "प्रभो ! मैं तो आपकी मर्यादा का ही पालन कर रहा हूँ; जो पहले आये थे,

उन्हें पहले पार उतार रहा हूँ ।" पहले कौन आये थे ? गोस्वामीजी ने लिखा---

पद परवारि जलु पान करि आपु सहित परिवार ।
पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार ॥ २/१०१

---उसने पहले अपने पितरों को पार किया और फिर बाद में प्रभु को । केवट नें कहा, "प्रभो ! जब आपने मुझे भगीरथ का बड़प्पन देकर पितरों का उद्धारक बना दिया, तो फिर मुझमें दोष कहाँ रह गया ? मुझे इतना वड़ा बनाकर अब अँगूठी देकर छोटा न बनाइए ।" और प्रभु ने हाथ रोक लिया । लोग तो बड़ों से माँगते और छोटों को देते हैं, पर प्रभु का कार्य इससे ठीक उल्टा है, वे छोटों से माँगते हैं और बड़ों को प्रदान करते हैं । केवट जैसे दीन-हीन व्यक्ति से उन्होंने माँगा और जब महान् दानी मनु के सामने प्रकट हुए, तो कहा—जो चाहिए हमसे माँग लो । क्योंकि वहाँ उन्हें दानी का अहंकार दूर करना था, पर यहाँ केवट की दीनता दूर करनी थी, अतः हाथ फैला दिया ।

जो दूसरों को दीन बनाकर स्वयं दानी बनना चाहे, वह वस्तुतः सच्चे अर्थों में दान का रहस्य नहीं जानता, वह तो दानी का गौरव चाहता है । असल दानी वह है जो ग्रहण करनेवाले को ही महान् बना दे; जैसे कि भगवान् राम । कहा जाता है कि भगवान् एक बार ही देते हैं । उनका तात्पर्य यह है कि जो एक बार मुझसे माँगने आए, वह फिर से दुवारा न आए; अगर उसे

बार बार आना पड़े, तो बार बार दीन बनना पड़ेगा और उसके मन की दीनता नहीं मिटेगी। पर हम लोगों की अवस्था उल्टी ही है। यदि हम देना चाहें, तो रुपये के सौ पैसे भुनाएँगे और एक व्यक्ति को एक एक पैसा करके सौ दिन तक देंगे। कम से कम उससे सौ बार दाता की जय बुलवाएँगे। अगर एक ही बार में रुपया दे दें तो रोज कौन जय बोलेगा? हमें तो जय-जयकार करनेवाला चाहिए, जो हमारी महिमा बढ़ाता रहे। पर प्रभु तो ऐसे हैं कि लगता है जयकार करनेवालों से वे घबराते हैं। गोस्वामीजी विनयपत्रिका (१६४/५) में लिखते हैं--

सहज सरूप कथा मुनि बरनत दहत सकुचि सिर नाई।
केवट मीत कहे सुख मानत, बानर बन्धु बड़ाई॥

--जब केवट उन्हें मित्र कहता है और वानर उन्हें बन्धु बना देते हैं तो प्रभु प्रसन्न होते हैं। और यदि कोई ऋषि-मुनि उन्हें ब्रह्म कह दें, तो प्रभु लजा जाते हैं। क्यों? यह एक बड़ी सार्थक बात है। आप अभिनय करने रंगमंच पर उतरें और यदि देखनेवाले आपको पहचानकर आपका पुराना नाम लेकर पुकारने लगें, तो आपको कैसा लगेगा? यही कि मेरा अभिनय ठीक नहीं हो रहा है, तभी तो ये मुझे पहचान गये। प्रभु ब्रह्म से मनुष्य बनकर आये और यदि मुनि कह दें कि आप ब्रह्म हैं, तो प्रभु घबरा जाते हैं, सोचते हैं कि जरूर नाटक में कोई कमी रह गयी है, तभी तो ये पहचान गये। पर जब केवट

मित्र कहकर पुकारता है, तो उन्हें प्रसन्नता होती है कि चलो, अभिनय ठीक हुआ, इसने पहचाना नहीं, ब्रह्म कहकर नहीं पुकारा।

यही भगवान् राम के चरित्र की विशेषता है। वे भक्तों के दोष, उनकी दीनता, उनका दुख हर लेते हैं। वे सूर्य के समान सवको प्रकाश देते हैं, पर अपने को नहीं चमकाते। तभी तो श्रीजानकीजी ने उन्हें भानु और रावण को जुगनू कहकर सम्बोधित किया। जुगनू स्वयं को चमकाने के लिए अन्धकार का अस्तित्व बनाये रखना चाहता है। पर भगवान् की रीति निराली है। उन्हें अपने बड़प्पन की चिन्ता नहीं, वे तो भक्तों को बड़प्पन वाँटते फिरते हैं। वे दीन को दानी, दुखी को सुखी, दोषी को निर्दोष, कुरूप को सुन्दर और छोटे को बड़ा वना देते हैं। उनके समान सहज कृपालु भला और कौन हो सकता है ?

•

हमारी सांस्कृतिक धरोहर

गीता प्रवचन-२१

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२/२२॥

(नरः) मनुष्य (यथा) जैसे (जीर्णानि) फटे-पुराने (वासांसि) कपड़े (विहाय) त्यागकर (अपराणि) अन्य (नवानि) नये (गृह्णाति) ग्रहण करता है (तथा) वैसे ही (देही) शरीरी [आत्मा] (जीर्णानि) जीर्ण शरीराणि) शरीर (विहाय) त्याग-कर (अन्यानि) दूसरे (नवानि) नये [शरीरों में] (संयाति) प्रवेश करता है।

"जैसे मनुष्य फटे-पुराने कपड़ों को त्यागकर अन्य नये कपड़े पहन लेता है, वैसे ही यह शरीरी आत्मा भी जीर्ण शरीरों को छोड़कर अन्य नये शरीरों मे प्रवेश कर जाता है।"

पूर्व श्लोकों में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आत्मा का स्वरूप समझाते हुए कहा था कि आत्मा अविनाशी, नित्य, अजन्मा और अव्यय है। नाश तो शरीर का होता है। आत्मा में मरने और मारने की क्रिया नहीं है। इसलिए अर्जुन, तू यह भय त्याग दे कि युद्ध में भीष्म, द्रोण आदि का वध करने से तुझे हत्या का पाप लगेगा। युद्ध तेरा कर्तव्य है, और इस कर्तव्य के पालन में यदि तुझे गुरुजनों का संहार करना पड़ा, तो वह तेरे लिए दोष का कारण नहीं बनेगा।

अब प्रस्तुत श्लोक में समझा रहे हैं कि दीखनेवाले शरीर के नष्ट होने से ऐसा नहीं समझना चाहिए कि सब कुछ नष्ट हो गया। यदि यह शरीर नाश को प्राप्त होता है, तो देही आत्मा को फिर से एक नया शरीर मिल जाता है। जैसे मनुष्य अपने फटे-पुराने कपड़ों को त्याग-कर नये वस्त्र पहन लेता है, वैसे ही यह देह का स्वामी आत्मा शरीर के जीर्ण होने पर उसे त्याग देता है और

एक नया शरीर ग्रहण करता है। भगवान् कृष्ण का यह तर्क देहासक्ति को दूर करने के लिए है। मनुष्य जिस सहजता के साथ पुराने और जीर्ण-शीर्ण कपड़े त्यागकर नये कपड़े पहन लेता है, उसी सहजता के साथ देही—देह का अभिमानी आत्मा—अपने अभो के यानी पुराने शरीर को छोड़कर नया शरीर धारण कर लेता है। यहाँ तात्पर्य है सहजता से। मनुष्य पुराने कपड़े को त्यागते समय शोक नहीं करता, तो फिर जीर्ण शरीर को ही छोड़ते समय क्यों वह शोक करे; क्योंकि शरीर आत्मा के लिए वस्त्र के ही समान है, यह इस श्लोक का आशय है। श्रीभगवान् मानो अर्जुन से यह कहना चाहते हैं कि अर्जुन, तू भीष्म पितामह एवं गुरु द्रोणाचार्य आदि के लिए जो शोक कर रहा है, वह उचित नहीं है। आत्मा की दृष्टि से यदि तू देखे, तो उसमें न कोई परिवर्तन है, न मरने-मारने की कोई क्रिया ही। और यदि तू उन लोगों की ओर शरीर की दृष्टि से देखे, तो उनका यह शरीर नष्ट होने पर उन्हें एक नया शरीर मिल ही जायगा। दुर्योधन आदि बान्धवों के मृत्यु-मुख में जाने की बात सोचकर यदि तू दुःखी हो रहा है, तो यह दुःख भी निरर्थक है। एक तो युद्ध-भूमि में वीरगति प्राप्त होने के कारण वे स्वर्ग का भोग करेंगे और दूसरे, वे पुनः नये शरीर धारण कर जन्म लेंगे। अर्जुन ! क्या तू जीवन को इतना सा ही मानता है कि एक दिन एक जीव पैदा हुआ, कुछ समय संसार में रहा और अन्त में काल के मुख में समा गया ? क्या जीवन

की गाथा इतने में ही समाप्त हो गयी ? अरे नहीं, अर्जुन ! जीवन तो शाश्वत है। आत्मा ही यथार्थ जीवन है। जीवन और आत्मा दोनों पर्यायवाची हैं। जैसे आत्मा अविनाशी और शाश्वत है, वैसे ही जीवन भी। एक शरीर भले नष्ट हो जाय, पर पुनः जीव को नया शरीर मिल जाता है।

यहाँ पर शरीर की नश्वरता के माध्यम से जीव की, देही की, शरीराभिमानी आत्मा की अविनश्वरता प्रदर्शित की गयी है। यहाँ पर पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी घोषित हुआ है—यह बताया गया है कि जीवन मात्र एक जन्म के तंग दायरे में नहीं बँधा है, बल्कि वह जन्मों की एक अनन्त शृंखला है। आइए, आज हम पुनर्जन्म के इसी सिद्धान्त पर विचार करें।

हिन्दू धर्म इसी पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर खड़ा है। भारत की माटी से जितने भी मत-सम्प्रदाय उपजे, सबने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को आधार के रूप में ग्रहण किया। बाहर के धर्म, जैसे—ईसाई और इस्लाम, पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते। पर पुनर्जन्म का सिद्धान्त युक्तियुक्त है। यही कारण है कि बाहर के धर्म जीवन की जिन समस्याओं का उचित समाधान नहीं दे पाते, उनका हल हिन्दू धर्म पूरे तर्क के साथ प्रस्तुत करता है। और इन तर्कों में पूरी वैज्ञानिकता है, जैसा कि हम आगे के विश्लेषण में अनुभव करेंगे।

हम गीता पर अपने सत्रहवें प्रवचन में कह चुके हैं कि पूर्वजन्म की स्मृति सम्बन्धी घटनाएँ केवल भारत में

ही नहीं, बल्कि विश्व के सभी देशों में पायी जा रही हैं। जो देश पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते, वहाँ भी ऐसी घटनाएँ मिली हैं, जहाँ किसी छोटे बालक या बालिका को अपनें पूर्वजन्म की स्मृति हुई है। इस क्षेत्र में मनोविज्ञान का एक अंग कार्यशील है, जिसे para-psychology यानी परा-मनोविज्ञान कहकर पुकारा जाता है। इस विभाग ने जाँच-पड़ताल के बाद पूर्वजन्म की स्मृति को सही पाया है, अर्थात् छोटे बच्चों ने अपने पूर्वजन्म सम्बन्धी जो बातें कहीं, वे सही साबित हुई हैं। हम यह भी बता चुके हैं कि यह स्मृति कैसे २॥ से ६–७ वर्ष की वय तक ही सीमित रहती है। इस उम्र के बाद बच्चा पूर्वजन्म की सारी बातें भूल जाता है। इसका कारण भी हमनें उपर्युक्त प्रवचन में प्रदर्शित किया है। साथ ही यह भी बताया है कि परामनोविज्ञानवाले ऐसी घटनाओं को जो extra-sensory perception (इन्द्रियातिरिक्त दर्शन) कहकर समझाने का प्रयत्न करते हैं, वह कोई उचित समाधान नहीं है।

अब, यह तो प्रत्यक्ष ही है कि पूर्वजन्म की स्मृति बतानेवाली घटनाएँ हुई हैं और ये जाँच-पड़ताल से सही प्रमाणित हुई हैं। इसका तात्पर्य यह है कि पुनर्जन्म होता है। यह अनुमान-प्रमाण से सिद्ध हुआ। इस सम्बन्ध में शास्त्र या आगम-प्रमाण प्रसिद्ध है ही। अब प्रत्यक्ष-प्रमाण से पुनर्जन्म को सिद्ध करना बाकी रहा। यदि हम वैज्ञानिक तरीके से यह सिद्ध कर सकें कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त

युक्ति और तर्क को नहीं काटता, बल्कि वह तर्क के द्वारा पुष्ट होता है, तो हम प्रत्यक्ष-प्रमाण की दिशा में एक ठोस कदम उठाने में समर्थ होंगे।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त यह मानता है कि मात्र एक जन्म इस जगत् में व्याप्त वैषम्य की मीमांसा नहीं कर सकता। यदि हम इसी जीवन को सब कुछ मान लें, तो मनुष्य मनुष्य के बीच जो भेद दिखायी देता है, उसकी मीमांसा कैसे हो ? कोई बुरा होता है, कोई भला; कोई कुरूप, तो कोई सुन्दर; कोई रोगी, तो कोई स्वस्थ; कोई धनी, तो कोई निर्धन। इस विषमता का क्या कारण है ? यदि इसके उत्तर में कहा जाय कि ईश्वर ने जैसा चाहा, वैसा बनाया, तो यह कोई वैज्ञानिक उत्तर नहीं हुआ। इससे तो ईश्वर में पक्षपात और विषम दृष्टि का दोष लगेगा। यदि हम ईश्वर को विश्व का सर्जनहार मानते हैं और साथ ही उसे न्यायी, करुणामय आदि सम्बोधनों से युक्त करते हैं, तो ऐसा ईश्वर कुछ पर अन्याय कैसे कर सकता है ? यह तो कोई समाधान ही न हुआ। इसी जीवन को सब कुछ मान लेने से यही दोष उपस्थित होता है। विज्ञान के पास भी इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है। जो लोग भौतिकवादी विचारधारा रखते हैं, वे इस जन्म को तथा जीवन की समस्त घटनाओं को accident—आकस्मिक—माना करते हैं। भारत में ऐसे जड़वादी 'चार्वाक' रहे हैं, जिन्होंने इस जीवन के आगे-पीछे कुछ न देखा। वे तो यहाँ तक कह गये—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

——जब तक जीओ, मौज से जीओ। यदि उसके लिए उधार लेकर घी पीने की आवश्यकता हो, तो वह भी करो। एक बार देह के भस्मीभूत हो जाने पर फिर से आने का सवाल ही कहाँ है ?

तो, कई भौतिकवादियों ने इस जीवन को आकस्मिक माना। इसका कोई लक्ष्य, कोई उद्देश्य वे देख न पाये। पर आज का विज्ञान किसी भी घटना को आकस्मिक नहीं कहता। यदि कोई बात 'आकस्मिक' दिखायी देती है, तो केवल इसलिए कि हम उसके पीछे छिपे नियम को जानने में असमर्थ हैं। आज विज्ञान के कोश में 'आकस्मिकता' का मात्र इतना ही अर्थ है। इसी प्रकार, आज का विज्ञान जीवन को निरुद्देश्य नहीं मानता। जब चार्ल्स डारविन ने 'क्रमविकास के सिद्धान्त की घोषणा की थी, तब जीवविज्ञान के क्षेत्र में हलचल मच गयी थी। उन्होंने अपनी इस Theory of Evolution यानी क्रम-विकास के सिद्धान्त द्वारा जीवन के क्रम को समझाने का प्रयास किया। उन्होंने प्रवाह का सूक्ष्म अध्ययन किया और इसमें एक क्रम देखा। उन्होंने घोषणा की कि विश्व में जितनी योनियाँ (species) दिखाई देती हैं, वे सब की सब एक क्रम से बँधी हैं, और इस क्रम को उन्होंने 'विकास का क्रम' (process of evolution) कहकर पुकारा। अत्यन्त स्थूल तौर पर यदि उनके इस क्रम-

विकास के सिद्धान्त की चर्चा करें, तो वह कुछ ऐसा होगा--

१. जीवनप्रवाह का प्रारम्भ 'अमीबा' (जीवाणुकोष) से होता है ।

२. यह जीवनप्रवाह विभिन्न योनियों का विकास करता हुआ मनुष्य-योनि तक आता है ।

३. जीवनप्रवाह के एक योनि से दूसरी योनि में जाने के दो कारण प्रतीत होते हैं--एक तो survival of the fittest (योग्यतम की अवस्थिति अर्थात् जो सबसे योग्य हो, वह बचे) और दूसरा natural selection (प्राकृतिक निर्वाचन) या sexual selection (यौन-निर्वाचन) ।

अब यहाँ पर कई प्रश्न खड़े होते हैं । कल्पना करें कि हम डार्विन से ये प्रश्न पूछ रहे हैं और वे हमें इसका उत्तर दे रहे हैं ।

प्रश्न--डार्विन साहब, आपने कहा कि जीवनप्रवाह विभिन्न योनियों का विकास करता हुआ मनुष्य-योनि तक आता है, तो क्या वह वहीं रुक जाता है अथवा उससे भी आगे जाता है ?

डार्विन--इसका कोई स्पष्ट उत्तर मेरे पास नहीं है ।

प्रश्न--अच्छा, क्या आप इस जीवनप्रवाह का कोई लक्ष्य मानते हैं, जिसकी प्राप्ति के लिए यह सारा विकासक्रम कार्य कर रहा हो ?

डार्विन--ऐसा तो नहीं प्रतीत होता ।

प्रश्न--चेतना (consciousness) के सम्बन्ध में आपकी

क्या धारणा है ?

डार्विन--विकास के क्रम में कहीं पर कुछ ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं, जब अचानक चेतना उत्पन्न हो जाती है। वह आकस्मिक है।

प्रश्न--क्या आप मनुष्य के पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं ?

डार्विन--नहीं।

प्रश्न--जो महामानव दिखायी देते हैं, जैसे ईसा, बुद्ध आदि, वे तो सामान्य मनुष्यों से बहुत ऊपर उठे दिखायी देते हैं। क्या आपको अपने सिद्धान्त की दृष्टि से इस अन्तर का कोई कारण दिखायी देता है ?

डार्विन--नहीं।

प्रश्न--मनुष्य मनुष्य में जो भेद और विषमता दिखायी देती है, उसे आप कैसे समझाएँगे ?

डार्विन--इसका भी कोई स्पष्ट और समाधानकारक उत्तर मेरे पास नहीं है।

प्रश्न--यदि आप ऐसा मानते हैं कि सभी योनियाँ विकासक्रम से बँधी हुई हैं, तो फिर मनुष्य भी विकास के नियमों और सिद्धान्तों से बँधा होगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य प्रकृति के द्वारा बद्ध है और अपनी मर्जी से कुछ नहीं कर सकता ?

डार्विन--हाँ, सभी योनियाँ विकासक्रम के हाथों यंत्र के समान हैं; प्रकृति के हाथों कठपुतली जैसे हैं। मनुष्य इसका अपवाद नहीं है।

प्रश्न--एक अन्तिम प्रश्न और। अमीबा से मनुष्य तक आप कितनी योनियाँ (species) मानते हैं?

डार्विन--यह मानने का सवाल नहीं, यह तो खोज का सवाल है। अभी तो मैं खोज में लगा ही हूँ। आप यह प्रश्न मेरे बाद में आनेवाले जीवशास्त्रियों से कीजिए। वे अधिक सही उत्तर दे सकेंगे।

आज का यह बीसवीं शताब्दी का विज्ञान भी इनमें से बहुतेरे प्रश्नों का समाधानकारक उत्तर नहीं दे पाता। फिर, ऊपर में डार्विन द्वारा जो उत्तर दिये गये हैं, उनमें से अधिकांश विज्ञान की ही दृष्टि से गलत हैं, जैसा कि हम अभी देखेंगे। पर श्रीमद्भगवद्गीता का दर्शन इन सभी प्रश्नों की युक्तिसम्मत मीमांसा प्रस्तुत करता है। 'कर्मवाद' और 'पुनर्जन्मवाद' ऐसे दो सशक्त हिन्दू सिद्धान्त हैं, जो उपर्युक्त सभी प्रश्नों का समाधानकारक उत्तर प्रदान करते हैं। भले ही विज्ञान की प्रयोगशाला में इन दोनों सिद्धान्तों पर प्रयोग नहीं हुआ है, तथापि पुनर्जन्म की अनेक घटनाएँ अतीत और भविष्य के सघन अन्धकार-मय परदे में एक छेद अवश्य कर देती हैं। इन दोनों सिद्धान्तों को पुष्ट करनेवाले तर्क अकाट्य हैं। चूँकि ये समस्त प्रश्न एक दूसरे से सम्बन्धित हैं, इसलिए इनको हम एक साथ ही चर्चा के लिए ले लें।

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य ऐसा नहीं ले लेना चाहिए कि हम चार्ल्स डार्विन की महानता को कम कर रहे हैं। वे वैज्ञानिक की दृष्टि से महान् थे। जब विज्ञान

जीवनप्रक्रिया से अनभिज्ञ था, तब डार्विन ने इस जीवन-प्रक्रिया के छिपे सूत्रों का आविष्कार किया। तत्कालीन अन्य वैज्ञानिकों ने उनकी आलोचना भी कम नहीं की। डार्विन एक अर्थ में क्रान्तिकारी थे। आज का जीवविज्ञान उन्हीं की देन है। उन्हीं के आविष्कृत सूत्रों का परिमार्जन और परिवर्धन आज किया गया है। वर्तमान युग के सबसे बड़े जीवशास्त्री सर जूलियन हक्सले डार्विन की प्रतिभा की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—"A century after Darwin's modest statement that light will be thrown on the origin of man, we can truly say that, as a result of Darwin's work in general and of 'The Origin of Species' in particular, light has been thrown on his destiny."—डार्विन ने अपने जमाने में एक विनयपूर्ण घोषणा की थी कि मानवजीवन के प्रारम्भ पर प्रकाश डाला जायगा। इस घोषणा के सौ वर्ष पश्चात् आज डार्विन की खोजों तथा विशेषरूप से उनके युगान्तर-कारी ग्रन्थ 'दि ओरिजिन ऑफ स्पीसीज' के फलस्वरूप यह सही सही कहा जा सकता है कि मानव की नियति पर प्रकाश डाला गया है। अस्तु।

गीता का दर्शन हिन्दू दर्शन का पर्यायवाची है। वह मानता है कि जीवन-प्रवाह अनादि और अनन्त है; न तो उसके प्रारम्भ का पता है, न अन्त का। इसलिए वह इस जीवनप्रवाह को वर्तुलाकर गति करते हुए मानता है। एक वृत्त के सम्बन्ध में यह नहीं बताया जा सकता कि उसका प्रारम्भ कहाँ से हुआ और अन्त कहाँ हुआ।

विज्ञान भी प्रकारान्तर से इसी की ओर संकेत करता है। जब डार्विन कहते हैं कि विकास का प्रवाह 'अमीबा' से शुरू होकर सीधे मनुष्य तक चला आया और इसी प्रकार चलता रहेगा, तो विज्ञान की दृष्टि से इस कथन में एक दोष है। विज्ञान कहता है कि there is no motion in a straight line. If a straight line is produced infinitely, it no more remains a straight line, it becomes a circle—'सरल रेखा में कोई गति नहीं होती। यदि सरल रेखा को अनन्त दूर तक फैला दिया जाय, तो वह सरल रेखा नहीं रह जाती, बल्कि वृत्त का रूप ले लेती है।

दूसरी बात जो विज्ञान कहता है, वह यह कि each evolution pre-supposes an involution— 'प्रत्येक क्रमविकास एक क्रमसंकोच की पूर्वसूचना देता है।' इसका तात्पर्य यह हुआ कि विकास कहने से ही संकोच का बोध होता है। जब हम कहते हैं कि 'अमीबा' से जीवनप्रवाह क्रमविकसित होता है, तो यह भी मानना पड़ेगा कि 'अमीबा' में 'कुछ' क्रमसंकुचित हुआ है, जिसका विकास डार्विन के कथनानुसार होता है। पर जीवशास्त्री यह नहीं बता पाते कि यह 'कुछ' क्या है, जो 'अमीबा' में आकर संकुचित हो गया है। बिना संकोच की धारणा के विकास की धारणा ही बन नहीं सकती। विकास को तो स्वीकार करना पर संकोच को न स्वीकारना अवैज्ञानिक बात है।

तीसरी बात जो विज्ञान कहता है, वह यह कि

nothing is created out of zero—शून्य से किसी चीज की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जब जीवशास्त्री कहता है कि चेतना (consciousness) अचानक ही, विकास के क्रम में कुछ परिस्थितियों के उपस्थित हो जाने पर, आकस्मिक रूप से उत्पन्न हो जाती है, तो विज्ञान की दृष्टि से यह भी गलत है। यदि चेतना पहले से जीवन-प्रवाह में विद्यमान न हो, तो वह किसी भी प्रकार से उत्पन्न नहीं हो सकती। विकासक्रम में बाद में कहीं जाकर चेतना भले ही प्रकट होती हो, पर वह प्रारम्भ से ही विद्यमान थी। वह अप्रकट थी, जिसे कुछ परिस्थितियों ने मिलकर प्रकट कर दिया। मतलब यह कि परिस्थितियाँ हठात् कोई नया तत्त्व, कोई मौलिक तत्त्व बनाकर पैदा नहीं कर सकतीं, वे केवल छिपे को, निहित को, अप्रकट को प्रकट कर सकती हैं। चेतना जीवन का मौलिक तत्त्व है। अतः वह प्रारम्भ से ही विद्यमान है।

आज का जीवशास्त्र कहता है कि 'अमीबा' से लेकर 'मनुष्य' तक लगभग १२८ लाख योनियाँ हैं। हमारे यहाँ साधारण तौर पर यह माना गया कि जीव ८४ लाख योनियों में भटककर तब कहीं मनुष्य-योनि पाता है। रामचरितमानस में हम पढ़ते हैं—

आकर चारि लच्छ चौरासी।
जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥ ७/४३/४

जिन्होंने विज्ञान की दो-एक पुस्तकें पढ़ी हैं, वे ८४ लाख योनि की बात को निहायत मजाक समझते हैं। ऐसे

लोगों को विज्ञान के आधुनिकतम अनुसन्धानों का अध्ययन करना चाहिए। दो-एक विज्ञान की किताब पढ़ लेने से ही मनुष्य वैज्ञानिक नहीं हो जाता। जो वैज्ञानिक होना चाहता है, उसे scientific temper (वैज्ञानिक मनोवृत्ति) का विकास करना चाहिए। जब सूक्ष्म अण्वीक्षण यंत्रों का आविष्कार नहीं हुआ था, तब हिन्दू धर्म का यह घोषित करना कि जीव चौरासी लाख योनियों में से जाकर तब कहीं मनुष्य-योनि में आता है, एक अद्भुत चमत्कार है और वह भारत की प्रतिभा का सूचक है।

पहले विज्ञान इस जीवनप्रवाह का कोई लक्ष्य नहीं मानता था। पर आज का वैज्ञानिक जीवन को निरुद्देश्य कहने में संकोच का अनुभव करता है। हम प्रवाहपतित तिनके नहीं हैं कि जिधर हमें प्रवाह बहा ले जाय, हम बहते रहेंगे। आज कोई भी व्यक्ति अपने जीवन को लक्ष्यहीन नहीं मान सकता। पैसा कमाना और धनसंग्रह करना, परिवार का पालन-पोषण करना, समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करना--यह सब जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता। यह तो पशु-पक्षी भी किया करते हैं। चींटियाँ संग्रह करती हैं; पशु-पक्षी अपने परिवार का पालन-पोषण करते हैं। पशु भी अपने दल का नेता होना पसन्द करता है। यदि मनुष्य भी इसी सब कुछ को स्पृहणीय माने, तो उसमें और पशु में क्या भेद ? संस्कृत के एक सुभाषित में कहा गया हैं--

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।

धर्मो हि तेषामधिको विशेषः तेनैव हीनाः पशुभिः समानाः ॥
——आहार, निद्रा, भय और प्रजनन की वृत्तियाँ पशुओं और मनुष्यों में समान हैं। मनुष्यों में धर्म की वृत्ति अधिक और विशेष हुआ करती है। यदि मनुष्य धर्म की वृत्ति से हीन हो जाय, तो वह पशु के ही समान है।

यह धर्म ही मनुष्य में विशेषता लाता है। पशु अपने मन का नियंत्रण नहीं कर सकता, वह अपने मन की क्रियाओं को नहीं समझ सकता, वह अपनी गतिविधियों का साक्षी नहीं बन सकता, क्योंकि वह अपनी सहज प्रवृत्तियों के द्वारा परिचालित होता है। पर मनुष्य का मन इतना विकसित है कि वह अपनी क्रियाओं को समझने और पकड़ने में समर्थ होता है, वह मानो स्वयं हटकर अपनी क्रियाओं को देख सकता है। यही उसकी विशेषता है। पर यह विशेषता आज उसमें सम्भावना के रूप में छिपी है। यह सम्भावना जितनी मात्रा में प्रकट होती है, उतनी ही मात्रा में मनुष्य अपने विकासक्रम का स्वामी होता जाता है, और जिस दिन वह इस सम्भावना को पूरी तरह प्रकट कर लेता है, उस दिन वह पूर्ण बन जाता है, बुद्ध बन जाता है, कृष्ण और ईसा बन जाता है, रामकृष्ण बन जाता है, सत्य का साक्षात्कार कर लेता है। उसके जीवन में तब विकासक्रम की पूर्णता साधित हो जाती है। लिंकन बार्नेट अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'The Universe and Dr. Einstein' में लिखते हैं कि मनुष्य अपनी इस सम्भावना से अपरिचित होने के कारण ही अशान्ति और दुःख का

शिकार है। उनके अनुसार मनुष्य को noblest and most mysterious faculty (सबसे उदात्त और रहस्यमय क्षमता) है—the ability to transcend himself and perceive himself in the act of perception (अपने को लाँघकर, देखने की क्रिया में अपने आपको देखने की सामर्थ्य)। मनुष्य की इसी क्षमता को हम धर्म की भाषा में 'साक्षीभाव' के नाम से पुकारते हैं। पशु में यह क्षमता नहीं होती। जिस उपाय से मनुष्य अपनी इस छिपी हुई क्षमता को अभिव्यक्त करता है, उसे 'धर्म' के नाम से सम्बोधित करते हैं।

यह धर्म जीवन के विकासक्रम को पूरी तरह समझाता है। जिन प्रश्नों का समाधान डार्विन का विकासवाद नहीं दे सकता, धर्म उन सभी का उचित समाधान प्रस्तुत करता है। और, आश्चर्य की बात है, डार्विन के लगभग एक शताब्दी बाद का आज का यह विज्ञान धर्म की इन बातों को काटता नहीं, बल्कि पुष्ट करता है। अगली चर्चा में इन बातों पर हम विस्तार से विचार करेंगे।

•

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद्चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) **आत्मदण्ड**

ग्रीष्मऋतु की झुलसती दोपहरी! युवा सूरदास कहीं जा रहे थे और तृष्णा ने उन्हें व्यथित किया। समीप ही एक कूप दिखायी दिया, जहाँ एक सुन्दरी युवती जल से

अपनी गगरी भर रही थी। सूरदास वहाँ गये और उन्होंने युवती से जल देने की याचना की। वह जल निकालने लगी और इधर युवा सूरदास उसके सौन्दर्य-रस का पान करने लगे। जल पिलाने के बाद जब वह घर जाने लगी, तो वे भी उसके पीछे जाने लगे। बात यह थी कि सूरदास की जल की तृष्णा तो शान्त हो गयी थी, किन्तु लावण्य की तृष्णा का शमन नहीं हुआ था। वह युवती अपने घर के अन्दर चली गयी, किन्तु सूरदास द्वार के सामने चुपचाप खड़े रहे। अकस्मात् युवती की उन पर दृष्टि पड़ी, तो वह द्वार पर आयी और उसने पूछा, "और पानी चाहिए !" उस निरीह, भोली-भाली को क्या पता कि वे पानी के नहीं, सौन्दर्य-रस के प्यासे थे। वह उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही जाकर जल ले आयी। युवती के भोलेपन और आतिथि-सत्कार की भावना ने मानो उन पर अंजन का काम कर दिया। वे मन ही मन स्वयं को धिक्कारने लगे, "अरे, जिसने मेरी तृष्णा का शमन किया, उस परस्त्री के प्रति मेरे मन में कलुषित भाव जागृत हुए ! किन्तु नहीं, इसमें इस अबोध मन का दोष नहीं, बल्कि इन कुटिल नयनों का दोष है और इसका दण्ड उन्हें अवश्य मिलना चाहिए, अन्यथा ये भविष्य में और अनर्थ कर सकते हैं।" युवती उन्हें सोच में खड़े देख चकित रह गयी। उसने पुनः पूछा, "आपको जल चाहिए न?" सूरदासजी ने सिर हिलाया। "तब क्या चाहिए ?" उसने साश्चर्य प्रश्न किया। सूर-

दासजी ने कुछ सोचा और उन्होंने कहा, "चाकू" । युवती दौड़कर एक चाकू ले आयी और उसे सूरदासजी को दे दिया । पश्चात्ताप की अग्नि में दग्ध युवा सूरदास ने तुरन्त अपने दोनों नेत्र फोड़ डाले और बोले, "इन्हें उचित दण्ड मिल गया है, अव इनकी पापी दृष्टि का कहीं प्रभाव न होगा ।" और उस दिन से सूरदासजी नेत्रहीन हो गये।

(२) सच्ची प्रतीति

एक बार गुरु नानक सियालकोट पधारे । उनके दर्शनार्थ आये श्रद्धालु लोगों ने उन्हें प्रणाम किया । अचानक गुरुदेव के कानों में सुनायी पड़ा--"एक ये साधु पुरुष हैं और दूसरा वह दुष्ट है; ये दूसरों का दुःख दूर करते हैं और वह दूसरों को दुःख पहुँचाता है !" नानकदेव ने लोगों से उस 'दूसरे' व्यक्ति के बारे में पूछा, तब पता चला कि 'हमज़ागौस' नामक एक मुसलमान-पीर लोगों को तंग करता है और नुकसान पहुँचाता है ।

नानकदेव ने हमज़ागौस को बुलाकर लोगों को तंग करने और नुकसान पहुँचाने का कारण पूछा । वह बोला, "यहाँ के एक व्यक्ति ने पुत्र-प्राप्ति की कामना की थी । मैंने उससे कहा था कि तुम्हें पुत्र होगा, किन्तु वह मेरी कृपा से होने के कारण तुम्हें उसे मुझे देना होगा । उसने उस समय तो यह शर्त स्वीकार कर ली, पर बाद में वह उससे मुकर गया । इसलिए मैं इस झूठी नगरी के लोगों को उसका दण्ड देता हूँ ।"

नानकदेव ने हँसते हुए पूछा, "गौस ! मुझे यह

वताओ कि क्या उस व्यक्ति को लड़का वास्तव में तुम्हारी कृपा से ही हुआ है?" "नहीं, वह तो उस पाक परवरदिगार की कृपा से हुआ है," उसने उत्तर दिया। "तव इन सारे लोगों का जन्म भी खुदा की ही कृपा से हुआ है न?" "बेशक," गौस ने जवाब दिया। नानकदेव ने छूटते ही प्रश्न किया, "फिर उनकी कृपा को नष्ट करने का अधिकार तुम्हें है या स्वयं परवरदिगार को ?"

और यह सुन गौस खामोश हो गया। नानकदेव आगे बोले, "किसी एक की खातिर दूसरे निर्दोष लोगों को नुकसान पहुँचाने से तुम्हें क्या फायदा ?" "मगर मुझे तो इस नगरी में खुदा का प्यारा एक भी आदमी दिखायी नहीं देता। यदि होता, तो उसे मैं नुकसान न पहुँचाता," गौस नें कहा।

इस पर सन्त नानक ने अपने शिष्य मरदाना को बुलाकर दो पैसे देते हुए एक पैसे का सच और एक पैसे का झूठ लाने कहा। मरदाना गया और जल्दी ही एक कागज का टुकड़ा ले आया, जिस पर लिखा हुआ था— "जिन्दगी झूठ, मौत सच !" गौंस ने इसे जव पढ़ा, तो बोला, "केवल लिखने से क्या होता है ?" तव नानकदेव ने मरदाना से उस व्यक्ति को लाने को कहा। उसके आने पर वे उससे बोले, "क्या तुम्हें मौत का भय नहीं है?" "अवश्य है," उसने जवाव दिया। "तव माया-जंजाल में तुम कैसे फँसे हो ? मौत के डर से तो तुम्हें लोभ-मोह से दूर ही रहना चाहिए, "नानक बोले। "आप सच

कहते हैं, स्वामी ! अब मैं 'मेरा अपना' कुछ भी नहीं समझूँगा ।" यह कहकर वह व्यक्ति चला गया ।

किन्तु इसका गौस पर बड़ा ही असर पड़ा । उसे प्रतीति हो गयी कि दूसरों को नुकसान पहुँचाने का उसे कतई अधिकार नहीं है । वह सन्त नानक के चरणों पर गिर पड़ा और उनसे क्षमा माँगी ।

(३) एको देवो द्वितीयो नास्ति

महाराष्ट्र के संत नरहरी सुनार की शिवजी पर अनन्य भक्ति थी, इतनी कि वे किसी दूसरे देवता का दर्शन स्वप्न में भी नहीं करते थे । एक बार एक सेठ उनकी दुकान पर आया और उसने उन्हें विठोबा देवता के देवालय में चलकर उनके लिए सोने का कमरबन्द तैयार करने कहा । इसका प्रयोजन पूछने पर उसने बताया कि उसे कोई पुत्र नहीं था और उसने मनौती की थी कि यदि उसे पुत्र हुआ, तो वह विठोबा देवता को सोने का कमरबन्द बना देगा । मगर नरहरीजी ने बताया कि वे शिवजी के अलावा किसी अन्य के देवालय तक में प्रवेश नहीं करते, इसलिए वह किसी दूसरे सुनार के पास जाए । इस पर सेठ बोला कि उनके समान श्रेष्ठ सुनार और कोई नहीं, इसलिए वह कमरबन्द उन्हीं से वनवाएगा । अव तो बड़ी समस्या उत्पन्न हुई । तव सेठ बोला, "मैं देवता का नाप ला देता हूँ, उस नाप का आप बनाइए," और नरहरी ने मजबूरी से इसे स्वीकार कर लिया । थोड़ी देर बाद सेठ नाप ले आया और उस नाप का

कमरबन्द नरहरी ने बनाया, मगर पहनाने पर वह बड़ा मालूम पड़ा। तब दुबारा नाप लेकर उसे छोटा किया गया, किन्तु अबकी पहनानें पर वह छोटा मालूम पड़ा। सेठ तीन-चार बार नाप लेकर आया और नरहरी उस नाप का कमरबन्द बनाते, पर या तो वह बड़ा मालूम पड़ता या छोटा। आखिर पुजारी और दूसरे लोगों ने सलाह दी कि नरहरी अपनी आँखों पर पट्टी बाँधकर वहाँ जाएँ और स्वयं नाप ले लें। नरहरी इसके लिए भी मजबूरी से तैयार हुए और जब उन्होंने नाप लेने के लिए मूर्ति का स्पर्श किया, तो उन्हें वह शिवजी की मालूम पड़ी। उन्हें मूर्ति के तीन नेत्र, मस्तक पर जटा, पीठ पर व्याघ्र-चर्म मालूम पड़े। उन्होंने सोचा कि उनके साथ मजाक किया गया है और उन्हें वास्तव में शिवजी के ही देवालय में लाया गया है, तब आँखों पर पट्टी क्यों बाँधी जाय ? और ऐसा सोच उन्होंने तुरन्त पट्टी हटा दी। मगर यह क्या, वह मूर्ति शिवजी की नहीं थी। उन्होंने झट से पट्टी पुनः बाँधी और नाप लेने लगे। मगर अब की बार उनका हाथ त्रिशूल पर जा पड़ा। गले पर हाथ फेरा, तो वहाँ सर्प दिखायी दिया। उन्होंने सोचा कि बहुत देर तक आँखें ढकी होने के कारण उन्हें धोखा हुआ होगा, अतः उन्होंने फिर से आँखें खोलीं और गौर से देखा तो वहाँ शिवजी की मूर्ति नहीं, बल्कि ईंट पर खड़े विठोबा दिखायी दिये। उनके शीश पर मुकुट, कानों में मकर-कुण्डल, कण्ठ में कौस्तुभ-मणि आदि शोभायमान थे और

वह मूर्ति उनकी ओर प्रमुदित होकर देखती हुई मालूम पड़ी। उन्होंनें ज्योंही फिर से आँखों पर पट्टी वाँधने के लिए हाथ बढ़ाया, त्योंही अकस्मात् उन्हें वह मूर्ति शिवजी की मालूम पड़ी। मूर्ति की ओर ज्यों ज्यों देखते, त्यों त्यों वह कभी विठोबा की तो कभी शिवजी की मालूम पडती। तब उन्हें प्रतीति हुई कि ये दोनों देवता एक ही हैं, वे व्यर्थ ही उनमें भेद मानते आ रहे थे। वे प्रसन्नता के मारे चिल्ला उठे, "हे देवाधिदेव ! हे सकल विश्व के जीवनदाता ! मैं आपकी शरण में आया हूँ। आपने अपनी प्रसन्न मुद्रा से मेरे मन का अज्ञान और अन्धकार दूर कर दिया है। अब मैं आपकी भी पूजा-अर्चना किया करूँगा।" और यह सुनते ही उपस्थित जनसमुदाय ने उनका जय-जयकार किया।

(४) ईश्वर का अस्तित्व

एक बार महर्षि रमण के पास एक युवक आया और बोला, "स्वामीजी, क्या आप मेरी शंकाओं का निवारण करेंगे ?" "अवश्य," महर्षि ने उत्तर दिया। उस युवक ने पहला प्रश्न किया, "इस संसार में इतना घोर अनर्थ कैसे हो रहा है ?"

"यह प्रश्न तुम भगवान् से क्यों नहीं पूछते ?" महर्षि ने प्रतिप्रश्न किया। युवक ने उत्तर दिया, "मगर मैं उनके पास जाऊँ कैसे ? वे दिखायी तो देते नहीं। वास्तव में मुझे उनके अस्तित्व पर ही शंका है।" "भला ऐसी शंका क्यों है तुम्हें?" महर्षि ने पुनः उससे प्रश्न किया।

"सीधी सी बात है," युवक बोला, "जब तक ईश्वर दिखायी न दे, तब तक कैसे जाना जा सकता है कि ईश्वर भी इस संसार में विद्यमान है ?"

रमण महर्षि बोले, "तुम ठीक कह रहे हो, मगर मेरे प्रश्न का जवाब दो, 'क्या तुम्हारे पास दिमाग है ?'" "अवश्य," उसने उत्तर दिया। "मगर मुझे तो वह दिखायी नहीं देता, तब मैं क्या ऐसी धारणा बना लूँ कि तुम्हें दिमाग है ही नहीं ? बस, यही बात ईश्वर के बारे में भी है। जिस प्रकार दिमाग के दिखायी न देते हुए भी हम ऐसी धारणा बना लेते हैं कि प्रत्येक मनुष्य को दिमाग होता है, उसी प्रकार भगवान् के दिखायी न देने पर भी उनके अस्तित्व के वारे में शंका नहीं करनी चाहिए।" वह युवक इस तर्क से सन्तुष्ट हो प्रसन्नता से वापस लौट गया।

(५) खुदा के बन्दे कौन ?

एक बार खलीफा उमर अपने धर्मस्थान पर बैठे थे कि उन्हें स्वर्ग की ओर उड़ता हुआ एक फरिश्ता दिखायी दिया। उसके कन्धे पर एक बड़ी पुस्तक लदी हुई थी। खलीफा ने उसे बुलाकर पूछा, "इस पुस्तक में क्या है ?" फरिश्ते ने जवाब दिया, "इसमें उन लोगों की सूची है, जो खुदा की इबादत करते हैं।" खलीफा नें वह पुस्तक माँगी और उसमें वे अपना नाम ढूँढ़ने लगे, मगर जब उसमें वह नहीं दिखायी दिया, तो उन्हें बड़ा ही दुःख हुआ कि वे अब तक व्यर्थ ही खुदा की इबादत करते थे; उनका सारा परिश्रम व्यर्थ गया।

कुछ दिन बाद वही फरिश्ता एक छोटी सी पुस्तक लिये स्वर्ग की ओर उड़ता दिखायी दिया। उत्सुकतावश खलीफा ने उसे पुनः बुलाया और पूछा, "इस पुस्तक में क्या है?" फरिश्ते ने बताया, "इसमें उन लोगों की सूची है, जिनकी इबादत खुद खुदावन्द करीम करते हैं।" खलीफा को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा, "क्या खुदा भी दूसरों की इबादत करते हैं।" "हाँ," फरिश्ते ने जवाब दिया, "जो लोग खुदा के आदेशों का पालन करते हैं, उन आदेशों के मुताबिक सारा कामकाज करते हैं, खुदा उन्हें इज्जत बख्शता है और उनकी इबादत भी करता है।" "अच्छा, जरा ऐसे लोगों के नाम तो देखूँ," यह कहकर उन्होंने उत्सुकता से पुस्तक का पहला पृष्ठ पलटा, तो उन्हें यह देख अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि उनका नाम सबसे पहले नम्बर पर था!

❖

आचार्य शंकर

ब्रह्मचारी सन्तोष

(उत्तरार्ध)

आचार्य शंकर के युग में समस्त भारत में बौद्धों, जैनों और तांत्रिकों का ही विशेष प्रभाव था। ये सभी वेदविरोधी थे। मीमांसक वैदिक ब्राह्मणगण भी वेदों को केवल कर्मकाण्ड का ही प्रतिपादक मानते थे और उसी का प्रचार करते थे। ज्ञानकाण्ड की इन लोगों ने सर्वथा उपेक्षा कर दी थी।

मीमांसकों के नेता थे महापण्डित कुमारिल भट्ट। वे अपने युग के अपराजेय विद्वान् थे। अपनी अद्वितीय प्रतिभा के बल पर उन्होंने सभी बौद्ध विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया था।

भगवान् वेदव्यास ने शंकर से कहा था कि तुम कुमारिल भट्ट को शास्त्रार्थ में पराजित कर उनसे अपने भाष्य पर वार्तिक की रचना कराओ। शंकर को समाचार मिला कि कुमारिल इस समय प्रयागराज में निवास कर रहे हैं। वे उनसे भेंट करने के लिए प्रयाग की ओर चल पड़े। जिस समय शंकर प्रयाग पहुँचे, उस समय कुमारिल भट्ट गुरुद्रोह के अपराध के प्रायश्चित्तस्वरूप तुषाग्नि में प्रवेश कर प्राणत्याग करने की तैयारी में थे। शंकर ने उन्हें कुछ क्षणों के लिए रोका और अपने आने का प्रयोजन बताया। किन्तु भट्टपाद ने नम्रतापूर्वक शंकर का प्रस्ताव अस्वीकार कर कहा, "यतिप्रवर! मेरे देहत्याग का समय आ गया है। किन्तु मेरा एक अत्यन्त मेधावी शिष्य है मण्डन मिश्र। वह योग्यता और प्रतिभा में मुझसे किसी अंश में कम नहीं है। वह माहिष्मती नगरी में रहता है। आप कृपया उसके पास जाकर उसे शास्त्रार्थ में पराजित कर, उससे अपने भाष्य के वार्तिक की रचना कराएँ। उसकी पराजय मेरी ही पराजय होगी।"

शंकर सशिष्य माहिष्मती नगरी में आये। मण्डन मिश्र से भेंट कर उन्होंने उन्हें उनके गुरु कुमारिल भट्ट

के अग्नि-प्रवेश की बात बतायी और भट्टपाद की अन्तिम इच्छा भी उनके समक्ष प्रकट की।

मण्डन गुरु के देहत्याग के समाचार से बड़े दुखी हुए। किन्तु उन्होंने गुरु की अन्तिम आज्ञा मान ली और वे शंकराचार्य से शास्त्रार्थ करने के लिए प्रस्तुत हुए मण्डन मिश्र की धर्मपत्नी भी परम विदुषी और सर्व-शास्त्रज्ञा थीं। शंकराचार्य ने उनसे ही शास्त्रार्थ की मध्यस्थता करने का निवेदन किया। उभय भारती ने ससंकोच शंकर का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

निर्धारित समय पर शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। दोनों ही शास्त्रार्थी महान् पण्डित और उच्च-कोटि के साधक थे। उनका शास्त्रार्थ सत्रह दिनों तक चलता रहा। अठारहवें दिन मण्डन आचार्य शंकर के प्रश्नों का उत्तर न दे सके। मध्यस्था उभय भारती ने निर्णय दिया कि मेरे पतिदेव शास्त्रार्थ में पराजित हो गये!

किन्तु उभय भारती ने आचार्य शंकर से निवेदन किया, "आचार्यप्रवर! मेरे पति की पराजय अभी पूर्ण नहीं हुई है। पत्नी अर्धांगिनी होती है। अतः आपको मुझे भी शास्त्रार्थ में पराजित करना होगा। तभी आपकी विजय पूर्ण होगी।"

आचार्य ने भारतीदेवी की चुनौती स्वीकार कर ली। भारती ने आचार्य से कामशास्त्र के सम्बन्ध में भी प्रश्न किये। सर्वज्ञ आचार्य ने उनके प्रश्नों का लिखित उत्तर दिया। भारतीदेवी ने पराजय स्वीकार कर ली।

भारतीदेवी की पराजय के पश्चात् मण्डन मिश्र ने संन्यास ग्रहण करनें का निश्चय किया। पति के संन्यास ग्रहण कर लेने पर पत्नी को विधवा की भाँति जीवनयापन करना पड़ता है। कौन सती नारी वैधव्य का जीवन बिताना चाहेगी ? अतः भारतीदेवी ने पति और आचार्य की आज्ञा ले योगबल से शरीर त्याग दिया। पत्नी की अन्त्येष्टि-क्रिया सम्पन्न कर मण्डन मिश्र ने यथाविधि आचार्य से संन्यास ग्रहण कर लिया। उनका संन्यास-नाम हुआ सुरेश्वराचार्य।

संन्यास ग्रहण करने के पश्चात् सुरेश्वर ने अन्य शिष्यों के साथ आचार्य शंकर से आग्रह किया कि पुण्य-भूमि भारत का भ्रमण कर इस अद्वैत सिद्धान्त के प्रचार द्वारा धर्म की पुनः स्थापना की जाय।

शिष्यों का आग्रह देख आचार्य ने भी सहमति दे दी। माहिष्मती से आचार्य सशिष्य चालुक्य राज्य (आधुनिक महाराष्ट्र) की ओर चले। वहाँ उन्होंने नासिक, पण्ढरपुर आदि तीर्थों के दर्शन किये तथा धर्मोपदेश द्वारा जनता में मानो प्राणों का संचार किया। भ्रमण करते हुए आचार्य क्रमशः श्रीशैल, गोकर्ण, मुकाम्बिका आदि क्षेत्रों में गये। इन सभी स्थानों में शैव, शाक्त, वीराचार, कापालिक आदि विभिन्न सम्प्रदायों के आचार्य एवं विद्वान् पण्डितगण शंकराचार्य से शास्त्रार्थ करने आये, किन्तु सभी उनकी प्रतिभा और वेदान्त की युक्तियुक्त व्याख्या के सामने नतमस्तक हो गये और उनके अनुगामी बने।

आचार्य शंकर श्रीबेली आये। वहाँ एक ब्राह्मण-परिवार रहता था। उनके एक पुत्र था। वह १२-१३ वर्ष का हो गया था, किन्तु कुछ बोलता न था। अपनी माँ को भी नहीं पुकारता था। लोग उसे बहरा और गूँगा समझते थे।

आचार्य शंकर की अलौकिक सिद्धियों की कीर्ति चारों ओर फैल गयी थी। बालक के माता-पिता यह जानकर कि आचार्य श्रीबेली में पधारे हैं, अपने मूक पुत्र को ले उनके पास गये। पिता ने बालक का हाल बताकर आचार्य से निवेदन किया कि वे कृपापूर्वक उसके पुत्र को वाणी प्रदान करें।

आचार्य को देख गूँगे बालक ने अपने आप ही उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया। पुत्र को स्वेच्छा से प्रणाम करते देख माता-पिता आश्चर्य में डूब गये।

बालक की ओर सस्नेह दृष्टिपात कर आचार्य ने पूछा, "वत्स! तुम कौन हो? कहाँ से आये हो? तुम्हारा क्या नाम है?"

आचार्य के प्रश्न सुन उस तथाकथित जड़ बालक ने सुललित कण्ठ से शुद्ध छन्दबद्ध संस्कृत भाषा में उत्तर दिया। यह उत्तर 'हस्तामलक स्तोत्र' के नाम से प्रसिद्ध है। इस स्तोत्र में आत्मा के नित्य-मुक्त-शुद्ध-बुद्ध स्वरूप का सुन्दर वर्णन है। आचार्य सहित सभी लोग यह अद्भुत चमत्कार देख दंग रह गये।

बालक की प्रतिभा और उसके लक्षण देख आचार्य ने उसके माता-पिता से कहा कि यह बालक संसारी होने

के लिए नहीं जन्मा है। आप इसे मेरे पास छोड़ जायँ। विवश हो ब्राह्मण-दम्पति ने आचार्य की आज्ञा मान ली। यथासमय आचार्य ने उस बालक को संन्यास की दीक्षा दी और वह हस्तामलक आचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

श्रीबेली से आचार्य श्रृंगेरी आये। यह एक प्राचीन तपोभूमि और पवित्र तीर्थस्थान है। शंकराचार्य जब प्रथम बार घर छोड़कर गुरु की खोज में नर्मदातट की ओर जा रहे थे, तब वे यहाँ ठहरे थे। इस स्थान की सुन्दरता और सात्त्विकता ने उन्हें बहुत प्रभावित किया था। अब की बार शंकर एक सिद्धयोगी और आचार्य होकर अपने शिष्यों के साथ यहाँ आये थे। साधना और स्वाध्याय के लिए यह स्थान बहुत अनुकूल था। आचार्य यहाँ ठहर गये। उन्होंने इस स्थान पर एक मठ स्थापित करने की इच्छा प्रकट की। इस क्षेत्र की धर्मप्राण जनता ने यह कार्यभार ग्रहण कर लिया। वहाँ भगवती शारदा देवी का एक मन्दिर बनवाया गया। साधुओं की कुटिया बनी। साधना और स्वाध्याय तीव्र गति से चलने लगा। आचार्य ने अपने करकमलों से यहाँ श्रीयंत्र की स्थापना की। 'विवेक-चूड़ामणि', 'आत्मबोध', 'दृग्दृश्य-विवेक' आदि अनेक गम्भीर दार्शनिक एवं उपदेशात्मक ग्रन्थ यहीं पर रचे गये। उनके शिष्य पद्मपाद सुरेश्वराचार्य आदि ने भी कुछ ग्रन्थों की रचना की। श्रृंगेरी धर्म, आध्यात्मिकता और विद्या का केन्द्र बन गयी। आचार्य द्वारा श्रृंगेरीमठ की स्थापना हिन्दू धर्म के इतिहास की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण

घटना है। यहाँ से एक नये युग का प्रारम्भ हुआ।

शृंगेरीवास के समय ही आचार्य के एक प्रमुख शिष्य तोटकाचार्य उनके पास आये थे। उनका पहले का नाम गिरि या आनन्दगिरि था। यद्यपि उनका जन्म ब्राह्मण-कुल में हुआ था, किन्तु वे पढ़े-लिखे नहीं थे। युवक गिरि शंकराचार्य के पास आये और बोले, "भगवन्! मैं आपकी सेवा करना चाहता हूँ। मुझे कृपया अपनी शरण में ले लीजिए।" आचार्य की अन्तर्दृष्टि ने गिरि की श्रद्धा और भक्ति को परख लिया। उन्होंने कृपापूर्वक उसे अपने पास रख लिया। गिरि बड़ी निष्ठा, लगन और तत्परता पूर्वक गुरु की सेवा किया करते।

एक दिन प्रातःकाल सभी शिष्य यथानियम आचार्य के सामने अध्ययन के लिए बैठे थे। समय हो चुका था, किन्तु आचार्य ने अध्यापन आरम्भ नहीं किया। एक शिष्य ने निवेदन किया, "भगवन्! सभी शिष्य आ गये हैं। अध्ययन का समय भी हो गया है। कृपया भाष्य पढ़ाना आरम्भ करें।"

आचार्य ने पूछा, "गिरि कहाँ है? उसके आये बिना अध्ययन कैसे आरम्भ होगा?"

आचार्य की बात सुनकर सभी को आश्चर्य हुआ।

एक शिष्य ने निवेदन किया, "गुरुदेव! गिरि आपके कपड़े धोने नदी के घाट पर गया है, किन्तु वह तो निरक्षर भट्ट है, वह भला शास्त्रों को क्या समझेगा?"

उस शिष्य की बातों का अनुमोदन कर अन्य सभी

शिष्य हँसने लगे और गिरि की हँसी उड़ाने लगे।

किन्तु आचार्य ने गम्भीर हो कहा, "नहीं! गिरि के आये बिना अध्ययन आरम्भ नहीं होगा।"

थोड़ी देर में सबने देखा कि गिरि लौट आये हैं। आकर उन्होंने गुरुदेव के चरणों में प्रणाम किया। साथ ही वे परमार्थ का निरूपण करनेवाले अद्भुत छन्दवद्ध श्लोकों की आवृत्ति करने लगे। उनके मुख से श्लोकों का मानो झरना फूट पड़ा। उनकी हँसी उड़ानेवालों का अभिमान चूर्ण हो गया। उन्होंने समझ लिया कि गुरु की कृपा से गिरि सर्वशास्त्रमर्मज्ञ हो गये हैं। गिरि ने सर्वप्रथम तोटक छन्दों में परमार्थतत्त्व का निरूपण किया था, इसलिए उनका नाम तोटकाचार्य हुआ।

श्रृंगेरी के निवासकाल में शंकर ने एक दिन सुना कि उनकी माता अस्वस्थ हो शय्या पर पड़ी हैं। वे तुरन्त अपनी जन्मभूमि की ओर चल पड़े। घर पहुँचकर उन्होंनें देखा कि माता अत्यन्त दुर्बल हो गयी हैं। उन्होंने समझ लिया कि माँ का अन्तकाल समीप ही है।

इतनें दिनों पश्चात् अपनें प्रिय पुत्र को देख मृत्यु-शय्या में भी विशिष्टा देवी आनन्द से विह्वल हो उठीं। उन्होंने शंकर से कहा, "बेटा! मैं तेरे सामनें ही शरीर त्यागना चाहती हूँ। तू ऐसी व्यवस्था कर दे, जिससे मेरी सद्गति हो और मैं अपने इष्ट के लोक को जा सकूँ।"

जननी को सान्त्वना दे शंकर नें कातरतापूर्वक भगवान् कृष्ण से अपनी माता पर कृपा करने की प्रार्थना

की। शंकर की प्रार्थना से प्रसन्न हो भगवान् नें उनकी जननी को दर्शन दिये। इष्ट के दर्शन से धन्य हो विशिष्टा देवी ने आनन्दपूर्वक देह त्याग दी और परमधाम को चली गयीं।

आचार्य शंकर के स्वजन-सम्बन्धी उनसे बड़ी ईर्ष्या रखते थे। उन लोगों ने उनकी माँ को भी बहुत कष्ट दिया था। आज जब उन्होंने सुना कि शंकर संन्यासी होकर भी अपनी माँ का अन्तिम संस्कार करेंगे, तो वे लोग बहुत ही उत्तेजित हुए। उन लोगों ने शंकर को बहुत भला-बुरा कहा और अन्त्येष्टि-क्रिया में कोई सहायता न दी। घर की वृद्धा परिचारिका की सहायता से शंकर ने माँ का अन्तिम संस्कार किया। अपनी पैतृक सम्पत्ति शंकर ने उस वृद्धा परिचारिका और एक निर्धन सम्बन्धी के बीच बाँट दी।

जननी के अन्तिम संस्कार के साथ ही शंकर के जीवन का एक विशेष कर्तव्य समाप्त हुआ। अब उनकी दृष्टि वैदिक धर्म के पुनरुत्थान की ओर गयी। उन्होंने निश्चय किया कि अब वे सारे भारत का भ्रमण कर अद्वैत-वेदान्त का प्रचार करेंगे। केरल के राजा उनके भक्त थे ही। उन्होंने आचार्य से निवेदन किया कि धर्मप्रचार का कार्य केरल राज्य से ही प्रारम्भ किया जाय।

आचार्य ने शृंगेरी से अपने संन्यासी-शिष्यों को बुलवा लिया। एक शुभ मुहूर्त में केरल राज्य से ही इस धर्मसंस्थापन के महाभियान का शुभारम्भ हुआ। आचार्य गाँव गाँव,

नगर नगर सदलबल जाते । वहाँ के जीर्ण-शीर्ण देवस्थानों, मन्दिरों आदि का पुनरुद्धार करते और जनता को सनातन वैदिक धर्म का उपदेश देते । संन्यासियों के अतिरिक्त सैकड़ों सद्गृहस्थ भी आचार्य के धर्म-संस्थापन के इस महाभियान में उनके साथ सेवारत थे ।

यात्रा करते हुए आचार्य श्रीरंगम् आये । यह स्थान वैष्णवों का प्रधान केन्द्र था । उनके विभिन्न सम्प्रदाय यहाँ रहा करते थे । शंकराचार्य के प्रति उन लोगों की विशेष श्रद्धा नहीं थी । उनके आगमन का समाचार सुनकर वैष्णवों में हलचल मच गयी ।

श्रीरंगम् पहुँचकर आचार्य सीधे मन्दिर में गये और अत्यन्त भक्तिभाव से भगवान् विष्णु की पूजा की । भगवान् विष्णु के प्रति आचार्य की अगाध भक्ति देख वैष्णवों का भ्रम दूर हो गया । उल्टे आचार्य के प्रति उनकी असीम श्रद्धा हो गयी ।

किन्तु वैष्णवों में इस समय बाह्याडम्बर का ही अधिक प्रचार था । उनमें ऐसी मान्यता प्रचलित थी कि शंख, चक्र, गदा, पद्म आदि विष्णुमुद्रा के चिह्न शरीर पर धारण करने से ही मुक्ति हो जायगी । आचार्य की सूक्ष्म दृष्टि ने इसे तुरन्त ताड़ लिया । उन्होंने वैष्णवों को समझाया कि शरीर पर केवल कुछ चिह्न धारण कर लेने मात्र से मुक्ति नहीं हो जाती । मुक्ति तो ज्ञानलाभ के द्वारा ही सम्भव है । निष्काम कर्म, पूजा-उपासना आदि के द्वारा चित्त को शुद्ध करना होगा । शुद्ध चित्त में ही

ज्ञान का उदय होता है। वेदों का यही आदेश है। अतः आप लोग पंचदेवताओं की उपासना करें तथा पंचमहा-यज्ञों के अनुष्ठान द्वारा चित्त को शुद्ध कर ज्ञानलाभ करें और विष्णुलोक की प्राप्ति के अधिकारी हो जाएँ।

आचार्य का यह युक्तिपूर्ण और व्यावहारिक उपदेश वैष्णवों को बड़ा रुचिकर लगा। उनमें से अनेक विद्वान् आचार्य के शिष्य हो गये।

पंचदेवताओं की उपासना और पंचमहायज्ञ के अनु-ष्ठान का प्रणयन आचार्य शंकर की हिन्दू धर्म को महान् देन है। इस उपासनापद्धति ने शताब्दियों तक हिन्दू धर्म को जीवित और सक्रिय रखा।

इस प्रकार शंकर ने विशाल भारत, जिसमें काबुल, कन्दहार, तिब्बत और ब्रह्म देश सभी सम्मिलित थे, की यात्रा की। स्थान स्थान पर उन्होंने धर्मसभाएँ कीं, शास्त्रार्थों का आयोजन किया। जीर्ण-शीर्ण मन्दिरों और देवालयों आदि का उद्धार किया, नये मन्दिरों की प्रतिष्ठा की। उनमें विधिवत् पूजा-अर्चना की व्यवस्था की और वैदिक धर्म का पुनरुद्धार किया।

धर्म-संस्थापन के इस महान् अभियान को प्रारम्भ हुए प्रायः सोलह वर्ष हो चले थे। इस अवधि में आचार्य ने आसेतुहिमाचल विशाल भारत का भ्रमण किया था। हजारों व्यक्तियों को धर्म की शिक्षा दी थी। सैकड़ों मन्दिरों और पूजा-स्थानों का उद्धार किया था। समस्त देश में वेदान्तधर्म की ध्वजा फहरा रही थी। हिन्दू

समाज सजग और धर्मनिष्ठ हो उठा था। फिर भी इस महान् उपलब्धि के स्थायित्व की व्यवस्था करना आवश्यक था। साथ ही आनेवाली पीढ़ी के मार्गदर्शन के लिए आचार्यों और गुरुओं की एक अक्षुण्ण परम्परा स्थापित करना भी प्रयोजनीय था।

आचार्य की अवस्था अब लगभग बत्तीस वर्ष की हो चली थी। उन्हें यह भान हो चुका था कि इस लोक में उनके कार्य करने की अवधि समाप्त हो रही है। अतः एक दिन उन्होंने अपने प्रमुख संन्यासी-शिष्यों को बुलाया और उनसे कहा, "शिष्यो! मर्त्यधाम में आने का मेरा प्रयोजन पूर्ण हो चुका है। अब मैं शीघ्र ही अपने स्वरूप में लीन हो जाना चाहता हूं। किन्तु इसके पूर्व मैं यह चाहता हूँ कि धर्म-जागरण के इस पुनीत कार्य को चिर-स्थायी बनाने के लिए तुम लोग एक संन्यासी-संघ का गठन करो। देश के चारों कोनों में मठों की स्थापना कर धर्म-प्रचार तथा आध्यात्मिक मार्गदर्शन की व्यवस्था करो।"

यद्यपि आचार्य की महासमाधि की इच्छा जानकर सभी दुखी हुए, तथापि उनके कार्य को चिरस्थायी बनाने के लिए सभी शिष्य संन्यासी-संघ के गठन के कार्य में जुट गये। चारों दिशाओं में चार मठों की स्थापना की गयी। दक्षिण में शृंगेरी मठ था ही, इसके प्रधान हुए सुरेश्वर। उत्तर में बदरिकाश्रम के पास ज्योतिर्धाम (वर्तमान जोशी मठ) में दूसरा मठ स्थापित किया गया। इसके मठाधीश हुए तोटकाचार्य। पूर्व में पुरीधाम में मठ

की स्थापना हुई। उसके प्रमुख आचार्य हुए पद्मपाद। और पश्चिम में द्वारकाधाम में मठ स्थापित हुआ। उसके मठाधीश बने हस्तामलक। इन चार मठों को क्रमशः श्रृंगेरीमठ, ज्योतिर्मठ, गोवर्धनमठ और शारदामठ भी कहा जाता है।

इन मठों के साथ साथ दशनामी सम्प्रदाय के नाम से एक विशाल संन्यासी-संघ की भी स्थापना को गयी। इस संन्यासी-संघ के चार विभाग कर उन्हें अलग अलग चारों मठों के आधीन कर दिया गया और उनके लिए यह नियम बना दिया गया कि वे लोग अपने सम्वन्धित मठ के मठाधीश के अन्तर्गत रहकर आध्यात्मिक साधना करें तथा धर्मप्रचार के कार्य में संलग्न रहें। संन्यासी-सम्प्रदाय का विभाजन निम्नानुसार किया गया——

शारदामठ के आधीन – तीर्थ और आश्रम सम्प्रदाय,
गोवर्धनमठ के आधीन – वन और अरण्य सम्प्रदाय,
ज्योतिर्मठ के आधीन – गिरि, पर्वत और सागर,
श्रृंगेरीमठ के आधीन – सरस्वती, भारती और पुरी।

इसके साथ ही आचार्य ने चारों वेदों का भी इन मठों के बीच विभाजन कर दिया——

शारदा मठ में – सामवेद का प्राधान्य,
गोवर्धनमठ में – ऋग्वेद का प्राधान्य,
ज्योतिर्मठ में – अथर्ववेद का प्राधान्य,
श्रृंगेरीमठ में – यजुर्वेद का प्राधान्य।

आचार्य ने इन मठों के अन्तर्गत अन्यान्य और भी मठों

की स्थापना कर धर्मप्रचार का कार्य करने का आदेश दिया। धर्मप्रचार के अपने महान् कार्य का भार उन्होंने संन्यासियों पर ही सौंपा। मठाधीशों के लिए नियम बनाये, जो मठाम्नाय या महानुशासन के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन मठाधीशों को आदेश दिया गया कि वे लोग अपने मठ के अन्तर्गत क्षेत्रों में सदा भ्रमण करते रहें तथा जनसाधारण में धर्म का प्रचार कर उसे सजग और जीवित रखें।

आचार्य की आयु अब बत्तीस वर्ष की हो गयी थी। उनके जीवन का कार्य था अद्वैत वेदान्त की स्थापना और अब वह पूर्ण हो चुका था। अपने कार्य के चिरस्थायित्व के लिए भी उन्होंने यथोचित व्यवस्था कर दी थी। इसलिए अब आचार्य ने नश्वर देह त्यागकर शाश्वत स्वस्वरूप में विलीन होने का निश्चय किया।

ज्योतिर्धाम में मठ-स्थापन आदि का कार्य सम्पन्न कर आचार्य बदरीधाम गये। भगवान् बद्रीविशाल के अन्तिम दर्शन कर आचार्य केदारनाथ धाम की ओर चल पड़े। अब आचार्य का मन एकदम अन्तर्मुखीन रहने लगा। वे प्रायः ध्यानमग्न रहते। शरीर-परिचालन के अनिवार्य कार्यों की ओर भी उनकी दृष्टि न जाती। यथासमय वे सशिष्य केदारनाथ पहुँचे। वहाँ कुछ समय विश्राम करने के उपरान्त एक दिन आचार्य ने अपने शिष्यों को बुलाया और कहा, "शिष्यो! मेरा कार्य समाप्त हुआ। अब मैं शरीर छोड़ने को प्रस्तुत हूँ। मैंने तुम लोगों को साधना

का जो मार्ग बताया है, उसका यथारीति पालन कर ज्ञान-लाभ करो और धर्म-संस्थापन के महान् कार्य में लगे रहो। यही मेरी अन्तिम इच्छा है और यही मेरा आशीर्वाद है।"

इतना कह आचार्य मन्दिर में गये। शिष्यगण भी उनके साथ वहाँ गये। आसन में बैठकर आचार्य गम्भीर ध्यान में निमग्न हो गये तथा योगबल से उन्होंने शरीर त्याग दिया। जनश्रुति है कि आचार्य का पांचभौतिक शरीर भी भगवान् केदारनाथ के विग्रह में विलीन हो गया।

(समाप्त)

अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

ब्रह्मचारी देवेन्द्र

स्वामी विवेकानन्द के विरुद्ध ईसाई दुष्प्रचार

(गतांक से आगे)

स्वामीजी २३ फरवरी को डिट्रायट छोड़कर गये, पर डिट्रायट उन्हें नहीं छोड़ पाया। उनके जाते ही उनके विरुद्ध मिशनरियों का धुआँधार दुष्प्रचार प्रारम्भ हो गया। उनके विराट् व्यक्तित्व का इस महानगरी में कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा था कि उनको लेकर एक तुमुल आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। उन्होंने लगातार पाँच वक्तृताओं और बैठकों में दिये कतिपय वार्तालापों द्वारा जनसाधारण के बीच एक अकथनीय प्रभाव प्रस्थापित किया था। लोगों ने उन्हें सर-आँखों में उठाया था। इसे सहन कर पाना मिशनरियों के लिए सहज न था, क्योंकि स्वामीजी ने तो

सीधे उनको जीविका पर ही चोट की थी। भारत के विरुद्ध ईसाई मिशनरी दुष्प्रचार करते थे कि सारे भारतीय बुतपरस्त हैं, अन्धविश्वासी हैं, जगन्नाथ के रथ के नीचे आकर अपने प्राण त्याग देते हैं, भारत में शिशुहत्या का वाहुल्य है, विधवाएँ जीते-जी जला दी जाती हैं, भारतीय स्त्रियों की दशा अत्यन्त दयनीय है, आदि आदि। स्वामीजी ने इस दुष्प्रचार की तीव्र आलोचना करते हुए इस सवको एकदम असत्य और भ्रामक सिद्ध किया था तथा अपनी विलक्षण मेधा और अनुपम ज्ञान के द्वारा हिन्दू धर्म को समस्त धर्मों का शीर्षस्थ प्रमाणित किया था। हिन्दू धर्म के विरुद्ध ऐसा दुष्प्रचार ही तो मिशनरियों के रोटी सेंकने का एकमात्र साधन था। उस पर हस्तक्षेप होना उनके लिए असह्य था। उनकी अवस्था पागलों की सी हो गयी थी और इसीलिए गिरजाघरों की प्रार्थना-वेदियों से, घरों की बैठकों से, विभिन्न सभाओं और सोसायटियों के माध्यमों से कट्टरपन्थियों ने स्वामीजी पर हर प्रकार से आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया। ऐसा कोई भी तरीका अछूता न रह गया, जिसे उन्होंने न अपनाया हो। 'डिट्रायट जर्नल' ने व्यंग्यात्मक भाषा में २६ फरवरी के अंक में लिखा, "हिन्दू संन्यासी विवेकानन्द ने अभी की अपनी डिट्रायट-यात्रा में कम से कम एक मंगल साधित किया, वह यह कि उन्होंने अपने नाम और विचारों के द्वारा स्थानीय पादरियों को कल के व्याख्यान के लिए दर्जनों से भी अधिक विषय सुझा दिये!"

कइयों ने स्वामीजी के विरुद्ध अन्धाधुन्ध गालियों की बौछार की, तो कइयों ने व्यंग्योक्तियों का सहारा लिया। सुसंयत सभ्य भाषा का भाषणों में कोई स्थान न रहा। 'डिट्रायट जर्नल' लिखता है, "उनमें से कुछ ने कानन्दा की कमर और जाँघ पर चोट की!"

स्वामीजी ने अपने भाषण में कहा था कि ईसाइयों की यह प्रार्थना कि 'हे प्रभो! हमें हमारी रोज की रोटी प्रदान करो,' सर्वथा स्वार्थप्रेरित है। इस पर एक पादरी ने फिकरा कसते हुए कहा, "कानन्दा और उसके लोग तो प्रार्थना ही नहीं करते, क्योंकि उनके ईश्वर के—निर्गुण ब्रह्म के—कान ही नहीं हैं!"

दूसरे पादरी ने अपने भाषण में सही हिन्दू धर्म को स्वामीजी द्वारा प्रस्तुत किये विचारों से सर्वथा भिन्न करार देते हुए कहा, "मैं कानन्दा को अपने सिद्धान्तों पर आस्था रखने के लिए दाद देता हूँ, पर मैं यह नहीं मानता कि वे हिन्दू धर्म अथवा भारत का प्रतिनिधित्व करते हैं।... मुझे इस शहर की स्त्रियों को उनके पीछे भागते और उन्हें आकाश में चढ़ाते देख आश्चर्य होता है। अगर वे उनके देश की स्त्रियाँ होतीं, तो उन्हें घर की पिछली कोठी में बन्द पड़े रहना पड़ता था।..."

इप्सलांटी शहर में जहाँ रेवरेण्ड स्टुअर्ट और राबी ग्रॉसमैन ने १८ फरवरी को स्वामीजी के उदार विचारों और कार्यों की महती प्रशंसा की थी, कट्टरपन्थियों ने अपने व्याख्यानों में उनकी भरपूर निन्दा की। 'ट्रिब्यून' के २६

फरवरी के अंक में इसके कुछ अंश प्रकाशित हुए। वहाँ के प्रमुख वक्ता थे रेवरेण्ड मोरे। उन्होंने भारत में तथा-कथित व्याप्त अनैतिकताओं का, बच्चों को मगर के मुँह में फेंकने का, स्त्रियों को जीवित जलाने का, जगन्नाथ के पहिये के नीचे लोगों के मरने का खूब रंग चढ़ाकर विस्तार से वर्णन किया। साथ ही अन्त में वे यह कहना न भूले कि आजकल ये सारे जघन्य कार्य दृष्टिगोचर नहीं होते, और इसका कारण मिशनरियों का अथक प्रयास है। उन्होंने रेवरेण्ड स्टुअर्ट और राबी को, जिन्होंने अमेरिका में व्याप्त अनैतिकता का पर्दाफाश किया था, असत्यभाषी ठहराया।

ये तो कुछ ही उदाहरण हैं, जो समाचार-पत्रों में आंशिक रूप से प्रकाशित हुए। पर कहना अत्युक्ति न होगी कि डिट्रायट के अधिकांश गिरजे स्वामीजी के विरुद्ध विष उगलने में पीछे न रहे। और यह दुष्प्रचार तथा असहिष्णुता पागलपन की किस हद तक पहुँच चुकी थी, इसका अन्दाज 'डिट्रायट ट्रिब्यून' और 'सण्डे न्यूज ट्रिब्यून' के सम्पादकीय में की गयी आलोचना से लगाया जा सकता है। सम्पादकीय लिखता है--"मतामत के तुमुल प्रवाह को मथने से भी सत्य को कोई आँच नहीं आ सकती। सृष्टि के आरम्भ से ही धार्मिक आस्था के उत्सों को आन्दोलित करके भी मानवसमाज को कोई हानि नहीं पहुँची है।... एक सामान्य बुद्धि की समझ में यह बात नहीं आती कि क्योंकर एक पिछड़े देश के मात्र एक हिन्दू के सार्वजनिक व्याख्यानों से ईसाई धर्म खतरे में पड़

जाएगा। क्या केवल इसलिए कि वह हिन्दू खड़ा हो विशुद्ध प्रांजल अंग्रेजी में कुछ तथ्य प्रस्तुत करते हुए यह बता सकता है कि भारत को भेजे गये मिशनरी कदाचित् ही उसके देश के धर्म को सही तरीके से आँकने में समर्थ हुए हैं ? एक साधारण व्यक्ति यह समझ नहीं पाता कि पन्द्रह-बीस प्रतिभाशाली तथा रूढ़िवादी पादरीगण, जो ईसाई धर्म और सभ्यता के जाज्वल्यमान प्रतीक हैं, क्यों अपनी प्रार्थनावेदियों से एक ऐसे गरीब विधर्मी के ऊपर धूलों की बौछार कर उसे लांछित करना आवश्यक समझते हैं, जो अपरिचितों के देश में अपने पैतृक धर्म की रक्षा के लिए अकेला खड़ा है, जहाँ वह चारों ओर से करोड़ों ईसाइयों से घिरा है तथा जहाँ लोगों की जमी हुई आदतें और प्रथाएँ, उनका सामाजिक और धार्मिक जीवन पीढ़ियों से ईसाइयों और ईसाई पादरियों द्वारा गठित हुआ है।" इस लेख में ईसाई उपदेशकों की आलोचना करते हुए कहा गया कि क्या यह उनके पद के अनुकूल है कि वे अन्य विषयों को छोड़ केवल एक ही विषय और एक विधर्मी को लेकर व्यस्त रहें ? यदि उन्हें लोगों की बुद्धिमत्ता पर तनिक भी विश्वास हो, तो ऐसा पुरजोर प्रचार करने की कोई आवश्यकता नहीं कि संसार में केवल एक ही धर्म है। "पूरे हफ्ते भर बहुतेरे लोगों ने अपना दिमाग अपने साथ रखा है और उन पर यह भरोसा किया जाना चाहिए कि वे उन सिद्धान्तों पर, जिन्हें वे समझते तथा मानते हैं, कायम रहेंगे।" पादरियों की संकीर्णता की आलोचना

करते हुए पत्र ने लिखा, "प्रोटेस्टैण्ट पादरियों का यह नियम बनाना कि उनके मतावलम्बी केवल उन उपदेशकों को सुनें, जो पूर्णरूपेण समान विचार रखते हों, मूर्खतापूर्ण है। धार्मिक मत-वैभिन्न्य का अधिक उपयोग भले न हो, किन्तु इसकी सर्वाधिक उपादेयता दूसरों के विचारों और चिन्तन की प्रणालियों से परिचित होने में है। प्राच्य मतों की पुस्तकों के पठन के बारे में मिशिगन के एक दिवंगत समादरणीय बिशप ने कहा था कि समय आ गया है, जबकि धर्म का अध्ययन तुलनात्मक ढंग से होना चाहिए।"

किन्तु प्रबुद्ध अमरीकी समाज केवल धर्म के तुलनात्मक अध्ययन से सन्तुष्ट होनेवाला नहीं था। वह तो और भी विशाल एवं उदार दृष्टिकोण तथा सिद्धान्तों की खोज में था, जिससे वह सारे विश्व के साथ तादात्म्य स्थापित कर सके। और यह बात उसने स्वामीजी के विचारों में पायी थी। स्वामीजी उसके सम्मुख ऐसे ही विचारों के ज्वलन्त प्रतीक बनकर आये थे। स्वामीजी ने बाद में स्वयं लिखा था, "इस देश के कट्टरपन्थी लोग सहायता के लिए चिल्ला रहे हैं।...वे मुझसे घोर भयभीत हैं। कहते हैं, 'यह कैसी बला है! हजारों स्त्री-पुरुष उसके अनुयायी हैं! यह तो कट्टरता की जड़ खोदने पर तुला हुआ है'!" श्रीमती बर्क लिखती हैं, "यह 'बला' शब्द तो न्यूनोक्ति थी। प्रत्येक संकुचित दिमाग के लिए वे एक ऐसे भयानक हौवा थे, जिसे हर कीमत में खत्म करना आवश्यक था।"

इसी उद्देश्य को सामने रख ५ मार्च को डिट्रायट में पादरियों की एक सम्मिलित सभा आयोजित की गयी। वक्ताओं में डा० डब्ल्यू. ई. बॉग्ज प्रमुख थे, जो भारत में अनेक वर्ष मिशनरी के रूप में रह आये थे। अतः स्वाभाविक था कि इनका कथन प्रामाणिक समझा जाता। उन्होंने घोषणा की कि भारत संसार का सर्वाधिक बुतपरस्त देश है। सारा देश मूर्तियों से भरा पड़ा है, जिनमें से अधिकांश ही भयानक, बीभत्स और कुत्सित हैं। ऐसा कोई अपराध नहीं है, जो इनके देवता न करते हों। और ये भारतीय उन्हीं की पूजा करते हैं! भारत पर प्रहार करने का श्री बॉग्ज़ का दूसरा महान् शस्त्र था 'भारतीय जाति-व्यवस्था'। इसे उन्होंने 'शैतान की सर्वोत्तम सृष्टि' के रूप में निरूपित किया। ब्राह्मणों को निम्न जातियों पर अत्याचार करनेवाला बतलाते हुए उन्होंने व्यंग्य किया, "और ये ही लोग इस देश में आकर चिकनी-चुपड़ी बातों द्वारा 'मानव के बन्धुत्व' की चर्चा करते हैं। एक ब्राह्मण का मानवीय बन्धुत्व के बारे में चर्चा करना वैसा ही है, जैसा एक जापानी का यह गर्व करना कि सदाचार और पवित्रता उसके देश का प्रमुख वैशिष्ट्य है!" भाषण का अन्त करते हुए उन्होंने कहा, "हिन्दू धर्म में राह दिखानेवाली कोई रोशनी नहीं। हिन्दू धर्म में कोई मुक्तिदाता नहीं। मात्र ईसा ही भारत की रक्षा कर सकते हैं।... भारत में ईसाई मिशनरियों की माँग कभी भी अत्युक्तिपूर्ण नहीं रही और न रहेगी। उनकी आवश्यकता

जितनी अधिक अभी है, उतनी कभी न रही।" दूसरे वक्ता भी इसी लहजे में बोलते रहे। एक डा० गॉर्डन ने निम्न शब्दों से अपने भाषण की समाप्ति की, "मैंने धर्ममहासभा पर कभी भी विश्वास नहीं किया, क्योंकि सिवाय ईसाई धर्म के बाकी सभी धर्म नकली हैं।...हमारे लिए यही श्रेयस्कर है कि हम ईसा मसीह के धर्म की रक्षा के लिए तत्पर हों। हमें अभी भी मिशनरियों को बाहर भेजना चाहिए तथा ईसा में प्रबल विश्वास बनाये रखना चाहिए।"

श्रीमती बर्क लिखती हैं, "इन सब वक्तृताओं का मर्म यही था कि मिशनरियों को न केवल बाहर जाना है, वरन् ईश्वर द्वारा निर्वाचित किये गये व्यक्तियों के रूप में जाना है। एक विधर्मी पश्चिम में धर्म का प्रचार करे और हजारों लोग उसका अनुसरण करें, उस पर श्रद्धा करें, यह एक असह्य, अक्षम्य अपमान था।"

ऐसी ही एक मीटिंग का वर्णन 'डिट्रायट ट्रिब्यून' के ८ मार्च के अंक में प्रकाशित हुआ। यह फोर्टस्ट्रीट प्रिसबिटेरियन चर्च की मिशनरी सोसायटी की वार्षिक बैठक थी। इसके प्रमुख अतिथि थे रेवरेण्ड डाक्टर थैकवेल, जो भारत में ४५ वर्षों तक पादरी के रूप में रहे थे। यहाँ भी भारत के गर्हित चित्रण के माध्यम से स्वामीजी की आलोचना ही इनका प्रमुख विषय थी। डा० थैकवेल ने इसी उपाय का अवलम्बन कर श्रोताओं की सहानुभूति मिशनरी कार्यों के प्रति खींचनी चाही। उन्होंने स्वामीजी के इस कथन को कि हिन्दुओं के प्रयासों से सती-प्रथा बन्द हुई, गलत

बतलाते हुए कहा कि अंग्रेज सरकार ने ही इसे वन्द किया। उन्होंने भारतीय स्त्रियों के बीच मिशनरी कार्यों की आवश्यकता अधिक दर्शायी, क्योंकि वे ज्यादा धर्मान्ध और श्रद्धालु होती हैं। "माँ अपने छोटे छोटे बच्चों को मूर्ति के पास ले जाती है और उन्हें उसकी पूजा करना सिखाती है। इस प्रकार माँ की लगातार भक्ति और प्रभाव के फलस्वरूप एक नया मूर्तिपूजक तैयार हो जाता है। अतः स्त्रियों के ही पास पहले पहुँचना होगा। जब वे ईसाई धर्म में परिवर्तित होंगी, तो वे अपने बच्चों को इस नये धर्म में ले आएँगी।" उन्होंने अपने भाषण में भारत के साधुओं द्वारा अपने शरीर को दी जानेवाली तरह तरह की यातनाओं को––जैसे, कीलों-भरे तख्त पर नंगे सोना, एक हाथ या पैर उठाकर तपस्या करना आदि को––अमानुषिक बताया और कहा कि यदि ये ईसाई धर्म ग्रहण कर लें, तो सही रूप में अच्छाई की ओर अग्रसर होंगे।

पर मिशनरी चाहे जैसा राग अलापें, जो प्रभाव स्वामीजी जनमानस पर छोड़ गये थे, वह नष्ट होनेवाला न था। जनता अब मिशनरियों की भ्रमात्मक मनगढ़न्त कहानियों द्वारा भुलावे में आनेवाली नहीं थी। डा० थैकवेल द्वारा भारत के बारे में प्रस्तुत किये गये कथनों के औचित्य पर शंका प्रकट करते हुए जे० स्टील नाम के एक व्यक्ति ने 'डिट्रायट जर्नल' के १५ मार्च के अंक में एक लम्बा पत्र लिखा––

"भारत के बारे में श्रेष्ठ जानकार कौन हो सकता है?—वह, जो वहाँ मिशनरी के रूप में रहा हो, अथवा वह, जो गंगा के किनारे पैदा हुआ हो तथा जिसने सारे देश का भ्रमण किया हो और सारा जीवन वहीं बिताया हो?... श्री थैकवेल कहते हैं कि सती-प्रथा को अंग्रेज सरकार ने बन्द किया, पर हम सब अच्छी तरह जानते हैं कि ईसाई-इंग्लैंड अपने राज्यों में अपने द्वारा किये गये किसी अच्छे कार्य का या हटाये गये बुरे कार्य का श्रेय लेने के लिए किस प्रकार तैयार रहता है। यदि इंग्लैंड ने इस अन्यायपूर्ण प्रथा को बन्द किया भी हो, तो वह इसलिए कि उस प्रथा से उसे कोई धन प्राप्त नहीं हुआ होगा। वह शराब से लदी जहाजें अपने एजेण्टों के साथ वितरण और विक्री के लिए भेजता है। इस शराब-व्यापार द्वारा वह स्त्रियों को विधवा बनाकर अधिक डालर कमा सकता है। भारत को उसकी शराब की जरा भी आवश्यकता नहीं और न चीन को उसकी अफीम की। किन्तु उसने बन्दूक की नोंक पर चीन में अफीम का धन्धा फैलाया है। असल में इंग्लैंड ही ऐसी जगह है, जहाँ मिशनरी कार्य की अत्यन्त आवश्यकता है और विदेशी मिशनरी सोसायटी को यह बात नजर-अन्दाज नहीं करनी चाहिए।"

धर्मान्तरण के कार्य में होनेवाले धन के प्रचुर व्यय का उल्लेख करते हुए लेखक ने लिखा—"प्रत्येक विधर्मी को ईसाई बनाने में औसतन २५ से ३० हजार डालर

लगते हैं। यह अत्यन्त खर्चीला व्यापार है और इसमें आश्चर्य नहीं कि चन्दा इकट्ठा करने के लिए सब प्रकार के हथकण्डे अपनाये जाते हों।...डा० गार्डन ने जो कि बोस्टन के एक गिरजे के सदस्य हैं तथा विदेशी मिशनरी सोसायटी के एक पदाधिकारी हैं, हमें बताया है कि वे किस प्रकार चन्दा इकट्ठा करते हैं। वे प्रतिदिन प्रार्थना करके माह में बीस हजार डालर एकत्र कर पाते हैं। उन्होंने गर्व प्रकट करते हुए कहा कि इस तरह उन्होंने एक गरीब नौकरानी लड़की से ५० डालर तथा एक चाल की कोठरी में निवास करनेवाली गरीब विधवा स्त्री से जिसके पास अपने गुजर-बसर के लिए कुल पूँजी के रूप में मात्र एक हजार डालर थे, ८०० डालर प्राप्त किया है।...अब अगर अल्लाहताला की हरियाली भरी दुनिया में यदि कोई ऐसा स्थान है, जहाँ मिशनरी कार्य सर्वाधिक आवश्यक हो, तो वह बोस्टन में डा० गार्डन का गिरजाघर होना चाहिए!"

पत्र के अन्त में लेखक नें लिखा, "पैसा प्राप्त करनें का तरीका चाहे प्रार्थना हो अथवा सहानुभूति, चाहे सम्मोहन-क्रिया हो या बन्दूक की नोंक, नैतिकता की दृष्टि से सभी समान रूप से गलत हैं और उतने ही अन्यायपूर्ण हैं, जितनी कि एक डकैती। मिशनरियों की सबसे अधिक आवश्यकता तो अपने ही घर में है, और वह मात्र अपनें ही शहर की गन्दी बस्तियों में नहीं, वरन् उन चार सौ गन्दी बस्तियों में भी, जो बोस्टन, शिकागो

तथा न्यूयार्क में फैली हुई हैं। इसकी जरूरत न केवल हमारे विधर्मी इंडियन्स के बीच है, जिन्हें अमरीकी ईसाइयों ने लूटा और नष्ट किया है, वरन् इस देश के जाने-माने ईसाई गिरजाघरों को भी सच्चे ईसाई धर्म का, न्याय, पवित्रता और भ्रातृभाव का पहला पाठ पढ़ाया जाना चाहिए।"

चाहे जान-बूझकर हो या बिना जाने, इसी समय डिट्रायट में स्वामीजी के जाने के बाद ही, २८ फरवरी से लेकर ४ मार्च तक 'छात्र स्वयंसेवक मिशनरी आन्दोलन' का द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित हुआ। जैसा कि समाचार-पत्रों से पता चलता है, यह सम्मेलन न केवल डिट्रायट में हुए समस्त सम्मेलनों से विशाल और महत्त्वपूर्ण था, बल्कि यह अमेरिका में हुए सम्मेलनों में सबसे बड़ा तथा संसार में आज तक आयोजित विशाल सम्मेलनों में से एक था। उसमें २९४ विभिन्न ईसाई विद्या-केन्द्रों तथा ३८ ईसाई सम्प्रदायों के ११८७ मान्य प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। मिशनरी सोसायटी के प्रतिनिधियों, विदेशों से वापस लौटे पादरियों तथा अन्य सदस्यों को मिलाकर कुल प्रतिनिधियों की संख्या १३५७ पहुँच गयी थी, और फिर दर्शकों की संख्या का तो कहना ही क्या। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इतना विशाल सम्मेलन स्वामीजी के बढ़ते हुए प्रभाव को खत्म करने के लिए तथा लोगों में ईसाई धर्म के प्रति गिरती आस्था को बचाने के लिए किया गया हो, जैसा कि 'मिशिगन

क्रिश्चियन एडवोकेट' अपने सम्पादकीय में लिखता है, "यह सम्मेलन विवेकानन्द और उनके भाषणों का कैसा अपूर्व प्रतिकारक हुआ ! यह ठीक मौके पर ही हुआ। विवेकानन्द ने अपने मनोहर तर्कजाल द्वारा जिस मोहकता की सृष्टि की थी वह, काफिरी के विरुद्ध उसकी अपनी ही जमीन पर मोर्चा लेनेवाले इन वीरों के सुदृढ़ विश्वास तथा जीवन्त अभिज्ञताओं के सम्मुख, कुहासे की भाँति तिरोहित हो गयी। कानन्दा अलविदा !"

भले ही यह अधिवेशन स्वामीजी के प्रभाव को गिराने के उद्देश्य से आयोजित हुआ हो, पर वह स्वयं स्वामीजी के प्रभाव से अछूता न रह पाया। सारे सम्मेलन में एक नयी ध्वनि गूँजती रही, जो कि अब तक हुए सम्मेलनों के लिए नूतन थी। और वह थी ईसा के आदर्शों को अधिकाधिक जीवन में उतारने की ध्वनि। पहले के अधिवेशनों में विदेशों में मिशनरी प्रचार-कार्य पर ही अधिक महत्त्व दिया जाता था, पर इस बार आदि से अन्त तक ईसा के आदर्शों से अनुप्राणित स्त्री-पुरुषों की माँग पर जोर दिया गया। इसमें सन्देह नहीं कि अधिवेशन में आध्यात्मिक पक्ष पर की गयी विशेष चर्चा स्वामीजी द्वारा बार बार दिये गये इस चेतावनी का फल हो सकती है कि मिशनरियों को अपने जीवन में ईसा का आदर्श उतारना चाहिए। पर इससे यह नहीं समझना चाहिए कि अधिवेशन में स्वामीजी को अछूता छोड़ दिया गया। प्रतिनिधिगण उनके प्रभाव को गिराने के लिए

उन पर तथा भारत पर चारों ओर से प्रहार करने में पीछे नहीं रहे।

पर जो हो, स्वामीजी का प्रभाव कम होने के बदले और भी जड़ पकड़ रहा था। उनके व्याख्यानों ने अब असर दिखाना शुरू किया था। इस मिशनरी अधिवेशन की चमक-दमक के बीच ही 'ईवनिंग न्यूज' ने अपने १ मार्च के अंक में एक लम्बा चित्रमय लेख प्रकाशित किया, जिसमें मिशनरी प्रोपेगैण्डा की हँसी उड़ाते हुए उनके द्वारा भारत में किये अपने कार्यों की डींग हाँकने का पर्दाफाश किया गया। भारत के बारे में जो भ्रमात्मक बातें मिशनरियों द्वारा बढ़ा-चढ़ाकर की जा रही थीं, उनकी पोल खोलते हुए सम्पादकीय ने अन्त में अमेरिकन मिशनरी रेवरेण्ड ए. डी. रोव की पुस्तक का हवाला दिया। श्री रोव ने अपनी इस पुस्तक की भूमिका में लिखा है--

'एक भारत तो वह है, जो पुस्तकों द्वारा दर्शाया गया है और दूसरा है सचमुच का भारत। इन दोनों में इतना अन्तर है कि एक का विद्यार्थी शायद ही दूसरे भारत को पहिचान पाये, यदि उसे बिना किसी मार्ग-दर्शक के किसी हिन्दू गाँव में अचानक उपस्थित कर दिया जाय। ये पुस्तकें उन पाश्चात्य यात्रियों द्वारा लिखी गयी हैं, जिन्होंने अपने को यात्रा के प्रमुख मार्गों तक—शहरों और बड़े नगरों तक ही सीमित रखा है, जहाँ वे सही हिन्दू जीवन का अत्यल्प भाग ही देख पाते हैं। ऐसा

लगता है कि बहुतसी पुस्तकें पाठकों के मार्गदर्शन की बजाय उन्हें चकित करने की दृष्टि से कहीं अधिक लिखी गयी हैं। ये पुस्तकें मन में यह छाप छोड़ जाती हैं कि भारत एक ऐसा देश है, जहाँ स्त्रियाँ तोतों की तरह पिंजड़े में बन्द रखी जाती हैं, विधवाएँ जीते-जी जला दी जाती हैं तथा शिशुओं को टोकने में लटकाकर पक्षियों के खाने के लिए छोड़ दिया जाता है अथवा मगरों द्वारा खाने के लिए गंगा में फेंक दिया जाता है। ऐसा लगता है कि यह देश मुख्यतया ऐय्याश देशी राजाओं से, शरीर को यातना देनेवाले धार्मिक भक्तों से, झाड़-फूँक करनेवाले ब्राह्मण-पुरोहितों से, रत्नों से लदी नर्तकियों तथा खूँखार शेरों से भरा पड़ा है। पर इन पुस्तकों में उन करोड़ों सहिष्णु एवं शान्तिप्रिय लोगों के बारे में बहुत कम अथवा नहीं के बराबर ही कहा गया है, जो समूचे मानव-समाज की ही भाँति आशा, भय, सुख, दुख, सहानुभूति और आकांक्षा लिये कठिनाइयों से जूझ रहे हैं।

"अमेरिका के स्कूली बच्चे भारत में विधवाओं के जलाये जाने अथवा शिशुओं के डुबाये जानें के बारे में एक साधारण हिन्दू गाँव के पिताओं की अपेक्षा कहीं अधिक जानते हैं। ये बातें एक हिन्दू बालक के लिए उतनी ही विस्मयकारी हैं, जितनी कि एक अमरीकी बालक के लिए। मैं यह नहीं कहता कि ये तथ्य अक्षरशः असत्य हैं, पर ये उन विषयों तथा आचरणों पर अधिक जोर देते हैं, जो अपेक्षाकृत जनजीवन में कम महत्त्व रखते हैं।"

निस्सन्देह इस लेख ने मिशनरी आन्दोलन अधिवेशन के उत्साह पर पानी फेर दिया होगा, पर उन पर वज्रपात तो तब हुआ, जब स्वामीजी के पुनः डिट्रायट में उपस्थित होने की खबर प्रकाशित हुई।

(क्रमशः)

•

रामकृष्ण-विवेकानन्द का सन्देश

स्वामी वीरेश्वरानन्द

(श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज विश्व भर में फैले रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन की शाखाओं के परमाध्यक्ष हैं। बम्बई-स्थित रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन की शाखाओं के स्वर्ण-जयन्ती महोत्सव के उद्घाटन के अवसर पर ४ मई, १९७४ को उन्होंने जो आशीर्वचन कहे, प्रस्तुत लेख उसी का अविकल अनुवाद है। —सं०)

मित्रो,

आज हम लोग यहाँ पर रामकृष्ण मठ तथा रामकृष्ण मिशन की स्थानीय शाखाओं के स्वर्ण-जयन्ती महोत्सव के उपलक्ष में एकत्र हुए हैं। ये शाखाएँ रामकृष्ण-विवेकानन्द के सन्देश का सतत प्रचार-प्रसार करती रही हैं और सामाजिक कल्याण हेतु अपनी विविध गतिविधियों के द्वारा इस सन्देश को कार्यरूप में परिणत करती आ रही हैं। प्रश्न उठता है कि यह सन्देश वस्तुतः है क्या? इस विषय पर एक संक्षिप्त भाषण में विचार करना सम्भव न होगा। अतएव मैं कतिपय प्रमुख मुद्दों को ही छूता हुआ चलूँगा।

जब स्वामी विवेकानन्द विश्व-धर्म-सम्मेलन में भाग लेनें के पश्चात् पश्चिम की यात्रा कर भारत लौटे, तो उन्होंने कोलम्बो से लेकर अल्मोड़ा तक अपने अधिकांश भाषणों में एक बात की ओर हमारा ध्यान विशेष रूप से आकर्षित किया था। और वह यह थी कि इस देश का राष्ट्रीय आदर्श है धर्म। प्रत्येक राष्ट्र का अपना एक आदर्श होता है, जो उसके जीवन को सँवारता और एक रूप प्रदान करता है। जब किसी कारण से वह संकटग्रस्त होता है, तो राष्ट्र को दुःख झेलना पड़ता है। भारत में हमारे राष्ट्र का जीवन धर्म पर आधारित है। इस परम्परागत आदर्श को छोड़कर किसी नये आदर्श को पकड़ने की चेष्टा राष्ट्र के लिए घातक सिद्ध होगी। इस देश ने सहस्रों वर्ष पूर्व इस आदर्श का वरण किया और अब उसे बदल देना सम्भव नहीं। यह सम्भव नहीं कि गंगा के प्रवाह को फिर से हिमालय तक उल्टा ले जाकर एक नयी दिशा में बहाया जाय। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं, "आखिर यह चुनाव कोई बुरा नहीं है।" शताब्दियों से, सुख और दुःख में, यह राष्ट्र इस आदर्श को धारण किये हुए है। यदि भारत को फिर से उठना है, तो उसका यह उत्थान धर्म के ही माध्यम से साधित होगा, अन्य किसी आदर्श के माध्यम से नहीं। भले ही वहाँ अन्य दूसरी बातों—जैसे, राजनीति, अर्थनीति आदि—के लिए भी स्थान होगा, पर वह सब धर्म के चौखटे के भीतर ही रहेगा। अतएव स्वामीजी कहते हैं, "भारत को

समाजवाद विषयक अथवा राजनीतिक विचारों से प्लावित करने के पहले यह आवश्यक है कि उसमें आध्यात्मिक विचारों की बाढ़ ला दी जाय।" वे यह भी चाहते थे कि "जो अपूर्व सत्य हमारे उपनिषदों, पुराणों और अन्य सव शास्त्रों में निहित हैं, उन्हें इन सब ग्रन्थों के पृष्ठों से, मठों की चहारदीवारियों से, वन और जंगलों से, कुछ सम्प्रदाय-विशेषों के अधिकार से बाहर लाया जाय," जिससे हर कोई उन्हें जान सके।

उनके मतानुसार भारत के पतन का एक कारण यह रहा है कि उच्च वर्ण वालों ने आध्यात्मिक सत्यों को अपने तक रखकर उन पर एकाधिकार कर लिया और सर्वसाधारण लोगों को उनसे वंचित रखा। अतएव वे कभी कभी उच्च जातिवालों पर उनकी इस स्वार्थपूर्ण वृत्ति के लिए बरस पड़ते थे। एक समय उन्होंने कहा, "तुम चाहे जितना भी अपने को आर्य-पूर्वजों की सन्तान कहने का प्रदर्शन करो, चाहे जितना भी प्राचीन भारत के वैभव का रात-दिन गुणगान करो और अपने जन्म के अभिमान में अकड़ते रहो, पर तुम—ऐ भारत के उच्च जातिवालो, तुम क्या ऐसा समझते हो कि तुम जीवित हो? तुम तो दस सहस्र वर्षों से सुरक्षित रखे हुए मुर्दे (mummies) के समान हो! भारतवर्ष में जो थोड़ी बहुत जीवनीशक्ति अभी भी है, वह उन्हीं में मिलेगी, जिन्हें तुम्हारे पूर्वज 'चलते-फिरते, सड़े, गन्दे मांसपिण्ड' मानकर घृणा करते थे; और यथार्थ में 'चलते हुए मुर्दे' तो तुम लोग हो!...

तुम्हारी अस्थिमयी अँगुलियों में तुम्हारे पूर्वजों के संग्रह किये हुए रत्न की कुछ अमूल्य मुद्रिकाएँ हैं और बहुत सी प्राचीन सम्पत्ति की पिटारियाँ तुम्हारे दुर्गन्धयुक्त मृत शरीर की छाती से चिपकी हुई सुरक्षित रखी हैं।... उन सब वस्तुओं को अपने उत्तराधिकारियों को सौप दो। यह बात यथासम्भव शीघ्र कर डालो। तुम अपने को शून्य में लीन करके अदृश्य हो जाओ और अपने स्थान पर 'नव भारत' का उदय होने दो। उसका उदय हल चलानेवाले किसानों की कुटिया से, मछुए, मोचियों और मेहतरों की झोपड़ियों से हो। बनिये की दुकान से, रोटी बेचनेवाले की भट्ठी के पास से वह प्रकट हो। कारखानों, हाटों और बाजारों से वह निकले। वह 'नव भारत' अमराइयों और जंगलों से, पहाड़ों और पर्वतों से प्रकट हो।" और यह कहकर वे हमें विश्वास दिलाते हैं कि ज्योंही ये महान् और शक्तिदायी विचार जनसाधारण तक पहुँचेंगे, नवजागरित भारत का उदय होगा।

पर हमें यह जान लेना चाहिए कि धर्म से हम साधारणतया जो समझते हैं, जैसे—कुछ मतवाद, कुछ रूढ़ियाँ, या पुरोहितों द्वारा अनुमोदित अन्धविश्वास अथवा लोकप्रिय रीति-रिवाज,—यह सब वस्तुतः धर्म नहीं है। धर्म तो चरम सत्य की अनुभूति है। स्वामीजी कहते हैं—"प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य एवं अन्तः-प्रकृति को वशीभूत करके इस अन्तःस्थ ब्रह्मभाव को व्यक्त करना ही जीवन का लक्ष्य है। कर्म, उपासना, मनःसंयम

अथवा ज्ञान—इनमें से एक अथवा एक से अधिक या सभी उपायों का सहारा लेकर अपना ब्रह्मभाव व्यक्त करो और मुक्त हो जाओ। बस, यही धर्म का सर्वस्व है।" श्रीरामकृष्ण के अनुसार विभिन्न धर्म ईश्वरानुभूति के अलग अलग रास्ते हैं। उन्होंने प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा इस सत्य की उपलब्धि की थी। बौद्धिक स्तर पर भी यदि हम विभिन्न धर्मों का विश्लेषण करके देखें, तो हमें पता चलेगा कि उनमें से प्रत्येक इन्हीं चार योगों की शिक्षा देता है—कोई एक योग पर बल देता है, तो कोई दूसरे पर। अतएव धर्मान्तरण को निरुत्साहित किया जाना चाहिए—प्रत्येक व्यक्ति अपने धर्म का अनुसरण करता हुआ अध्यात्म के क्षेत्र में उच्च से उच्चतर उठे और ईश्वर की अनुभूति कर ले।

धर्म को राष्ट्रीय जीवन के शैक्षणिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक आदि सभी क्षेत्रों में भिदना होगा। शिक्षा ऐसी हो, जो युवा पीढ़ी को इस धरती की संस्कृति का पाठ पढ़ाए और उन्हें राष्ट्र का सच्चा प्रतिनिधि बना दे। इससे मेल खानेवाली समस्त लौकिक विद्या का स्वागत होगा। यदि ऐसा न हो, तो शिक्षा असफल ही रहेगी।

आज हम देश की समाजवादी संरचना हेतु प्रयत्नशील हैं। दुनिया की पूँजी मुट्ठी भर लोगों के हाथ में है, शेष सब लोग तो अज्ञानता, दारिद्र्य, भुखमरी और रोग-राई के शिकार हैं। इने-गिने विशाल हृदयवाले व्यक्तियों ने ऐसी दुर्दशा के विरोध में अपनी आवाज

बुलन्द की। इससे सामाजिक संघर्ष का सूत्रपात हुआ। समाज में धन की स्थिति ऐसी ही है, जैसे शरीर में रक्त। रक्त का संचार शरीर में सर्वत्र होना चाहिए। यदि वह शरीर के किसी अंग में न पहुँचे, तो वह अंग नष्ट हो जाता है और सम्भव है कि उससे कोथ पैदा हो जाय, जो व्यक्ति के जीवन को ही खतरे में डाल दे। इसी प्रकार, यदि धन समाजरूपी शरीर के किसी अंग में न पहुँचे, तो वह अंग सड़ने लगता है और अन्त में उस समाज की मृत्यु का कारण बन जाता है। यद्यपि वर्तमान परिस्थितियों में समाजवाद अभीष्ट है, तथापि वह अधूरा मंजिल ही होगा और हमारी सारी समस्याओं को नहीं सुलझा सकेगा। स्वामीजी ने अपने एक पत्र में लिखा था, "मैं समाजवादी हूँ—इसलिए नहीं कि मैं उसे सभी बातों में पूर्ण मानता हूँ, वरन् इसलिए कि 'अन्धे मामा से काना मामा अच्छा'।" पचहत्तर वर्ष पूर्व स्वामीजी ने कहा था, "हर बात से यही संकेत मिलता है कि समाजवाद अथवा किसी प्रकार की लोकसत्ता, चाहे उसे जिस नाम से पुकारो, के दिन आ रहे हैं। लोग अवश्य चाहेंगे कि उनकी भौतिक आवश्यकताएँ पूरी हों, काम कम हो, अत्याचार न हो, युद्ध न हो, खाने-पीने की चीजें अधिक हों। इस बात का हमारे पास कौन सा प्रमाण है कि यह अथवा अन्य कोई सभ्यता टिक पाएगी, जब तक कि वह धर्म पर, मनुष्य की भलमनसाहत पर खड़ी नहीं होती ? उस पर भरोसा करो, धर्म किसी भी बात की

जड़ तक जाता है। यदि वह ठीक है, तो सभी ठीक है।"

समाजवाद की वर्तमान धारणा जड़वाद से उपजी है, पर आज के युग का संकट केवल बाहर के संसार में नहीं है, वह तो मनुष्य की आत्मा में भी समाया हुआ है। केवल धर्म ही इन दोनों संकटों से हमारी रक्षा कर सकता है। वह मनुष्य को दिव्यता की स्थिति तक उठा देता है। हम कितना भी राजनीतिक अथवा आर्थिक जोड़-तोड़ बिठाएँ, उससे हम परिस्थिति का सामना नहीं कर सकते। फिर, जब हम समाजवाद की स्थापना के लिए आगे आते हैं, तो मनुष्य के स्वार्थ का हमें सामना करना पड़ता है। शासन का संविधान व्यक्ति को निःस्वार्थ नहीं बना सकता। अतः जब शासन समाजवाद को लागू करना चाहता है, तो स्वार्थी लोग अपनी लोभवृत्ति को तृप्त करने के लिए जमाखोरी, खाद्य द्रव्यों और दवाओं में मिलावट, पैसे की अफरातफरी आदि का सहारा लेते हैं। यह स्वार्थपरता, जो उन्हें असामाजिक बना देती है, केवल एक उच्चतर और अधिक प्रभावी स्वार्थपरता से ही दूर की जा सकती है, और वह है अपनी मुक्ति की इच्छा, जो मनुष्य को जीवन के समस्त रोगों से मुक्त कर देती है। यदि समाजवाद का यह रूपान्तरण गीता का कर्मयोग अथवा स्वामीजी द्वारा उपदिष्ट सेवा-सिद्धान्त (जिसमें उन्होंने जीव में शिव को देखते हुए उसकी सेवा पर बल दिया) जैसे किसी धार्मिक आधार पर खड़ा हो, तो समाजवाद लोकतांत्रिक प्रणाली से धीरे धीरे अपनी

जड़ें जमा ले सकता है। इस प्रकार, समाजवादी भारत में भी धर्म को एक महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रदान करनी होगी, जिससे हमारे देशवासी उसे स्वत:प्रेरित हो स्वीकार करेंगे और उसके लिए कार्य करेंगे। रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन राष्ट्र के समक्ष इसी धार्मिक दृष्टिकोण को रखने का प्रयास कर रहा है।

सभी महान् धर्माचार्य और मसीहा गरीबों के स्नेही थे। वे सभी के लिए आये थे, केवल धनिकों के लिए नहीं। हमारा समाज भी समाजवादी दृष्टिकोण पर गठित था, क्योंकि हमें संविधान देनेवाले हमारे ऋषियों ने कभी अधिकारों की चर्चा नहीं की, वरन् केवल कर्तव्य की बात कही। राजा से लेकर अति सामान्य व्यक्ति तक के लिए कर्तव्य निर्धारित थे। उसी प्रकार उन चारों वर्णों के लिए भी, जिन पर अपनी सामर्थ्य के अनुसार समाज की सेवा का भार न्यस्त था। वे अपनी इन सेवाओं के बदले किसी प्रकार के विशेषाधिकार का दावा नहीं कर सकते थे। इसी भाँति चार आश्रमों के सदस्यों के कर्तव्य भी निर्धारित थे। वहाँ केवल कर्तव्य पर ही बल था, अधिकार की कोई चर्चा ही नहीं थी। प्रत्येक से आशा की जाती थी कि वह अपने निर्धारित कर्तव्यों के पालन के द्वारा राष्ट्र के उन्नयन के लिए कार्य करे। आज का दृष्टिकोण कर्तव्य के बदले अधिकार पर बल देता है। यह हमारी संस्कृति के लिए परकीय भाव है। अपने कर्तव्य का सचाईपूर्वक पालन करने से व्यक्ति न केवल राष्ट्र की सेवा

करेगा, वरन् आध्यात्मिक दृष्टि से भी उन्नति करेगा। अधिकारों के लिए लड़कर देश की सेवा नहीं की जा सकती। स्वामीजी ने बारम्वार हमें बताया है कि "त्याग और सेवा ये भारत के द्विविध आदर्श हैं।"

मैंने ऊपर संक्षेप में रामकृष्ण-विवेकानन्द के सन्देश के कुछ पहलुओं पर अपने विचार रखे, जिसका हम विश्व भर में प्रचार करने का तथा साथ ही जिसे भारत एवं इतर देशों में मिशन की गतिविधियों के माध्यम से कार्यरूप में परिणत करने का प्रयास कर रहे हैं। हमारा विश्वास है कि अज्ञानी, असहाय और पीड़ित की सेवा यदि उनके भीतर विद्यमान ईश्वर की उपासना की दृष्टि से की जाय, तो वह लौकिक कर्म को उपासना की ऊँचाई तक पहुँचा देती है और अन्ततोगत्वा व्यक्ति को ईश्वर-साक्षात्कार का अधिकारी बना देती है।

श्रीरामकृष्ण का सन्देश सुदूर या समीप जिस किसी देश में पहुँचता है, अपने अनुयायी तुरन्त बना लेता है। यह इस बात का प्रतीक है कि वर्तमान युग में वह मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। जितनी भी महान् सभ्यताओं का उदय हुआ, उन सबके पीछे किसी न किसी आध्यात्मिक महापुरुष का जीवन और सन्देश कार्यरत रहा है। यही बात श्रीरामकृष्ण के जीवन और उपदेशों पर भी लागू हो रही है—उनके आगमन से एक नये युग का, एक नयी सभ्यता का सूत्रपात हुआ है।

मित्रो, हम लोग विगत पचास वर्षों से बम्बई में जो

यह कार्य करते चले आ रहे हैं, वह आप सबके हार्दिक सहयोग से ही सम्भव हो सका है। मैं आशा करता हूँ कि भविष्य में भी हमें आपसे यह सहयोग प्राप्त होता रहेगा, जिससे दिन-प्रतिदिन हम अधिकाधिक लोगों की सेवा करने में समर्थ हो सकें। मैं कामना करता हूँ कि श्रीरामकृष्ण देव का आशीर्वाद हम सबको प्राप्त हो, जिससे हम उनके सन्देश को भारत एवं बाहर के अन्य देशों में फैलाने के लिए उपयुक्त यंत्र बन सकें।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

•

प्रश्न—क्या नारियों के लिए ओंकार का जप विहित है? कुछ लोग मानते हैं कि नारी वेद नहीं पढ़ सकती। इस मान्यता का क्या कोई वैज्ञानिक आधार है?

—रमाप्रसन्न द्विवेदी, इलाहाबाद

उत्तर—हाँ, नारी ओंकार का जप कर सकती है। नारी वेदका पाठ कर सकती है। नारी को वेद-पाठ आदि के अधिकार से वंचित

किया गया, इसका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। प्राचीन काल में नारियाँ वेद-प्रवचन में भाग लिया करती थीं, इसके प्रमाण हमें प्राप्त हैं। जैसे लड़कों की शिक्षा-दीक्षा के लिए गुरुकुल होता था लड़कियों की शिक्षा के लिए भी उसी प्रकार की व्यवस्था थी। लड़कों के उपनयन-संस्कार के ही समान लड़कियों का भी उपनयन-संस्कार होता था। वेद-वादिनी गार्गी का नाम अतिशय प्रसिद्ध है ही। जिस प्रकार वेदों में पुरुष-ऋषियों के द्वारा रचे मंत्र पाये जाते हैं, उसी प्रकार वहाँ पर नारी-ऋषियों द्वारा रचित मंत्र भी दृष्टिगोचर होते हैं। जब नारी वैदिक सूक्तों की रचयिता है, तो क्या नारी उन वैदिक सूक्तों को नहीं पढ़ सकती ? नारियों का वेद-पाठ आदि का अधिकार छीन लेना पुरुष का उस पर अत्याचार है। यही अत्याचार नारी को धीरे धीरे विशाल दायरे से ढकेलता हुआ अन्त में घर की चहारदीवारी में बन्द कर देता है।

ओंकार जगत् में व्याप्त उस परम सत्ता का शाब्दिक प्रतीक है। उसका जप करने में नारी को भला क्या बाधा हो सकती है ? विज्ञान-जगत् के प्रयोग जैसे नारी और पुरुष दोनों के लिए समान अर्थ और महत्त्व रखते हैं, वैसे ही अध्यात्म-जगत् के प्रयोग भी दोनों के लिए समान महत्ता रखते हैं। ओंकार के जाप से यदि पुरुष आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है, तो नारी के लिए भी उसका वही महत्त्व है। हिन्दू समाज प्राचीन काल में नारी को पुरुष के ही समान सभी क्षेत्रों में अग्रसर होने के अवसर देने का हिमायती था। बीच के काल में मुगलों के आक्रमण से हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गयी। इन विधर्मियों में नारी को किसी प्रकार का अधिकार प्राप्त नहीं था। ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी छाप हिन्दू समाज पर भी पड़ गयी और नारी केवल पुरुषभोग्या बनकर रह गयी। समाज की इस दुरवस्था को दूर करना है और हिन्दू संस्कृति के दीप्तिमान रत्नों को अच्छी

तरह परिष्कृत कर पुनः संसार के समक्ष रखना है।

⊠

प्रश्न–बुरे संस्कारों को कैसे जीता जा सकता है ?

—शीला भंडारी, दिल्ली

उत्तर–हमें स्मरण रखना चाहिए कि संस्कारों पर एकदम से विजय नहीं पायी जा सकती। उन्हें धीरे धीरे ही बदला जा सकता है। संस्कारों को बदलने या जीतने के लिए हमें पहले यह जान लेना चाहिए कि संस्कार बनते कैसे हैं। हम जब जान-बूझकर किसी क्रिया को बार बार दुहराते हैं, तो वह संस्कार का रूप धारण कर लेती है। क्रिया जब संस्कार का रूप लेती है, तब उसे जान-बूझकर दुहराने की आवश्यकता नहीं होती, तब तो वह अपने आप ही हमारे मन में आकर खड़ी हो जाती है और मन इन्द्रियों को वैसी क्रिया करने में लगा देता है। इस संस्कार को दूर करने के लिए पहले मन के उस ओर के लगाव को समाप्त करना होगा और तत्पश्चात् मन मे जब भी वह संस्कार उठे, उसकी उपेक्षा करनी होगी, उसे तरह देना बन्द करना होगा और मन को उस संस्कार की विरोधी वृत्ति की ओर बलपूर्वक मोड़ना होगा।

एक उदाहरण से इस **बात** को स्पष्ट किया जाय। मान लीजिए आप एक कुत्ते को एक दिन प्यार से रोटी का टुकड़ा देती हैं। कुत्ता आपके पास आना शुरू करता है। आपने दूसरे दिन पुनः उसे रोटी दी। यदि इसी प्रकार आप इस क्रिया को कुछ बार और दुहरा दें, तो कुत्ता आपको देखते ही आपके पास दौड़ आयगा, आपसे लिपट जायगा, आपकी गोद में चढ़ने के लिए मचलेगा। मान लीजिए कि किसी कारण से कुत्ते का आपके प्रति ऐसा व्यवहार आपको पसन्द नहीं आता, आप अब नहीं चाहतीं कि कुत्ता आपके पास आये। तब आप क्या करेंगी ? सबसे पहले आपको कुत्ते के प्रति अपने लगाव को बन्द करना होगा। केवल

यही नहीं, उसे रोटी देना बन्द करना होगा। पर इतने से भी काम न होगा। कुत्ता तब भी आपके पास दुम हिलाता हुआ आयगा, आपसे लिपटने की कोशिश करेगा। तब अपने को कठोर बना आपको कुत्ते पर लाठी से प्रहार करना होगा। कुत्ता आपके इस उल्टे व्यवहार से कुछ चकित होगा। लाठी की मार खा आपसे दूर तो चला जायगा, पर पुनः वह आपके पास दुम हिलाता हुआ आ पहुँचेगा। आपको फिर से उस पर लाठी चलानी होगी। बारम्बार इस प्रकार करने पर तब कहीं कुत्ते को ऐसा लगेगा कि आप उसे नहीं चाहतीं और तब वह आपके पास आना बन्द करेगा।

बुरे संस्कारों के साथ भी ऐसा ही करना पड़ता है। बुरा संस्कार कुत्ते के समान पालतू हो गया है। उसे हमने अपने सिर पर चढ़ा रखा है। यदि हम उसे जीतना चाहते हैं, तो सबसे पहले उसके प्रति अपने मानसिक लगाव को दूर करना होगा। उसे खाद्य देना बन्द करना होगा। उदाहरणार्थ, यदि मन में लोभ का संस्कार उठा, तो त्याग की महिमा का चिन्तन करना होगा। जो त्यागी पुरुष हो गये हैं, उनका विचार मन में उठाना होगा। लोभ-वृत्ति के उठने पर उस पर बारम्बार विवेक का प्रहार करना होगा। लोभ की वृत्ति को हमीं ने बढ़ावा दिया है और अब हमें यह स्पष्ट बता देना होगा कि 'ऐ लोभवृत्ति, हम तुम्हें नहीं चाहते !'

योगसूत्रों के रचयिता महर्षि पतंजलि अवांछनीय वृत्ति को दूर करने के लिए उसकी विपरीत वृत्ति पर मन को केन्द्रित करने की सलाह देते हैं। इससे हम मन में एक नये संस्कार को जन्म देने में समर्थ होते हैं, जो उस बुरे संस्कार की तीव्रता को शिथिल करता है और एक दिन उसे जड़ से समाप्त कर देता है। महाबली अर्जुन भी इसी समस्या से ग्रस्त है। वह गीता में भगवान् कृष्ण से पूछता भी है--

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ।। ३/३६।।

—'हे वार्ष्णेय! किसके द्वारा प्रेरित होकर, इच्छा न रहते हुए भी, मनुष्य मानो बलपूर्वक पापकर्म में लगा दिया जाता है?'

उत्तर में श्रीभगवान् कहते हैं—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ।। ३/३७।।

—'यह काम है, यह क्रोध है, जो रजोगुण से उत्पन्न होता है। इस बैरी को महापेटू और महापापी जानो।'

यह कहकर श्रीभगवान् इस बैरी को जीतने का उपाय भी बताते हैं। उनके कथन का सार यह है कि इन्द्रियाँ विषयों से चिपकती हैं, मन इसका रस लेता है और बुद्धि इसे स्वीकृति प्रदान करती है। इसीलिए बुरा संस्कार प्रबल हो जाता है। ऐसे संस्कार को दूर करने के लिए पहले बुद्धि उसे स्वीकार करना बन्द करे, फिर मन अपने लगाव को खींच ले तथा इन्द्रियाँ अपने को विषयों से अलग कर लें।

यह कार्य धीरे धीरे ही साधित होता है। विषयों में भटकते मन को बारम्बार खींचकर भगवान् में लगाना चाहिए। इससे बुरे संस्कारों का जोर अपने आप ही कम हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अशुभ वृत्ति के प्रति लगाव का नाश, अशुभ वृत्ति के उठने पर या तो उस पर विवेक का बारम्बार प्रहार या फिर उसकी एकदम उपेक्षा अथवा विपरीत वृत्ति का चिन्तन, ईश्वर के पास कातर होकर प्रार्थना—ये ऐसे उपाय हैं, जिनका एक साथ सहारा लेने से हम बुरे संस्कारों को जीतनें में समर्थ होते हैं।

●

बलराम मन्दिर

अपील

'बलराम मन्दिर' श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा, स्वामी विवेकानन्द तथा श्रीरामकृष्ण देव के अन्य संन्यासी शिष्यों एवं भक्तों की पुण्य स्मृतियों से भरा हुआ है। आज तो वह अन्तर्राष्ट्रीय तीर्थ का रूप धारण कर चुका है।

'बलराम मन्दिर' ५७ रामकान्त बोस स्ट्रीट, कलकत्ता-३ में स्थित है। यह श्रीरामकृष्ण देव के एक प्रमुख गृही शिष्य श्री बलराम बोस का निवासस्थान था। श्रीरामकृष्ण इस घर को शताधिक बार भेंट दे चुके थे। अपने अन्तिम वर्षों में श्रीरामकृष्ण ने जब भी कलकत्ते में रात्रियापन किया, तो वह इसी घर में। वे ऐसे समय दूसरी मंजिल के नैऋत्य कोनेवाले कमरे में शयन किया करते थे। इस कमरे से लगकर जो बड़ा कमरा है, उसमें वे भक्तों से मिला करते। इस बड़े कमरे नें श्रीरामकृष्ण के कितने आध्यात्मिक वार्तालाप और भजन सुने हैं, उनकी कितनी भाव-समाधियाँ देखी हैं!

इसी से लगा हुआ जो आयताकार बरामदा है, उसमें रथ-यात्रा के दिन श्रीरामकृष्ण भक्तों के साथ मिलकर जगन्नाथजी का छोटा रथ खींचा करते और सारा वातावरण भगवान् के नाम से गुंजित हो जाता।

'बलराम मन्दिर' के इसी बड़े कमरे में स्वामी विवेकानन्द नें १ मई, १८९७ ई. को 'रामकृष्ण मिशन असोसियेशन' की स्थापना की। फिर इसी कमरे में राभकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के प्रथम अध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्द ने १० अप्रैल, १९२२ को अपना पार्थिव शरीर छोड़ा।

यह 'बलराम मन्दिर' एक सार्वजनिक धर्मादा ट्रस्ट के रूप में न्यस्त हुआ था, पर कुछ मामलों-मुकदमों के कारण ट्रस्ट का कार्य शुरू नहीं हो पाया था। १८ जनवरी, १९७३ को यह

सम्पत्ति मुकदमों से मुक्त हो गयी और ट्रस्ट ने कार्य करना प्रारम्भ कर दिया है। यह भवन २०० वर्ष पुराना हो चुका है और इसकी मरम्मत जरूरी है। श्रीरामकृष्ण देव एवं उनके शिष्यों और भक्तों के एक योग्य स्मारक के रूप में इस 'मन्दिर' को प्रतिष्ठित करने में लगभग ५ लाख रुपयों की तत्काल आवश्यकता है। इस पुनीत कार्य में उदारचेता दानदाताओं से आगे आने का साग्रह अनुरोध किया जाता है। दानदाता अपना उदार दान मनीआर्डर द्वारा या 'बलराम मन्दिर' के नाम से चेक काटकर निम्नलिखित किसी भी पते पर भेज सकते हैं—

१. सेक्रेटरी, 'बलराम मन्दिर', ५७ रामकान्त बोस स्ट्रीट,
कलकत्ता ७००-००३

२. सेक्रेटरी, 'बलराम मन्दिर', रामकृष्ण मिशन, बेलुड़मठ
७११-२०२, जि.—हावड़ा (प. बंगाल)

●

भारत का पतन इसलिए नहीं हुआ कि हमारे प्राचीन नियम और रीति-रिवाज खराब थे, वरन् इसलिए कि उनका जो उचित लक्ष्य है, उस पर पहुँचने के लिए जिन अनुकूल वातावरण एवं साधनों की आवश्यकता थी, उनका निर्माण नहीं होने दिया गया।

—स्वामी विवेकानन्द